वर्ष ४, अंक-१ चैत्र, संवत-२०७४-७५ : १७-१८ मार्च, २०१८

सम्मेलन साहित्य

रचना, शोध और आलोचना की त्रैमासिकी



३१वाँ महाधिवेशन विशेषांक

बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन
सम्मेलन-मार्ग, कदमकुआँ, पटना- ८०० ००३



NABARD

National Bank for Agriculture and Rural Development | राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक
Website: www.nabard.org | Follow us on: /nabardonline

गाँव बढ़े तो देश बढ़े
Taking Rural India >> Forward

Save a tree. Please do not print this email unless it is absolutely necessary. पेड़ बचाओ. यदि आवश्यक नहीं है तो इस ईमेल का प्रिंट ना लें.

"The information in this e-mail is confidential, intended solely for the addressee/addressees and may be legally privileged. If you are not the intended recipient, please delete the message and notify the sender. Any unauthorized use or disclosure of the contents may be unlawful. All liability for viruses is excluded to the fullest extent permitted by law. Views expressed in this message are those of the individual sender, except where the sender states otherwise, with requisite authority, to be those of NABARD".

सम्मेलन साहित्य

३९वाँ महाधिवेशन विशेषांक

आचार्य शिवपूजन सहाय एवं
महापंडित राहुल सांकृत्यायन के
१२५वें वर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित।

वर्ष-४, अंक-१, जनवरी-मार्च, २०१८

प्रधान सम्पादक

डॉ. अनिल सुलभ

❒

सम्पादक

आचार्य श्रीरंजन सूरिदेव

❒

कार्यकारी सम्पादक

डॉ. शिववंश पाण्डेय

❒

सह-सम्पादक

श्री योगेन्द्र प्रसाद मिश्र

❒

सम्पादन-परामर्शी

प्रो. शशिशेखर तिवारी
श्री नृपेन्द्रनाथ गुप्त
पं. शिवदत्त मिश्र
श्री मृत्युंजय मिश्र 'करुणेश'
डॉ. शंकर प्रसाद
डॉ. मधु वर्मा
डॉ. कल्याणी कुसम सिंह
डॉ. कुमार अरुणोदय

❒

सम्पर्क

9431016169, 9430014180,
9334493466, 9431880089,
9430253666, 8383842327

स्वत्वाधिकारी बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कदमकुआँ, पटना-800003 के लिए प्रकाशक एवं सम्पादक डॉ. अनिल सुलभ द्वारा बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कदमकुआँ, पटना-3 से प्रकाशित। वातायन, एडीसन आर्केड, पटना-800001 से मुद्रित।

मो. 9431040914

मूल्य : ३० रुपये मात्र

अनुक्रम

			पृ.सं.
	सम्पादकीय-आभार	**-डॉ. शिववंश पाण्डेय**	I
	स्वागताध्यक्ष का भाषण	**-पद्मश्री डॉ. सी.पी. ठाकुर**	II
	अध्यक्षीय सम्बोधन	**- डॉ. अनिल सुलभ**	III
1.	राहुल सांकृत्यायन की जीवन-यात्रा	- डॉ. शशिशेखर तिवारी	00
2.	आचार्य शिवजी और उनकी सम्पादन कला	- आचार्य श्रीरंजन सूरिदेव	00
3.	आचार्य शिवपूजन सहाय : अनन्य सम्पादकाचार्य	- डॉ. बजरंग वर्मा	00
4.	शिवपूजन सहाय और काशी	- डॉ. मंगलमूर्त्ति	0
5.	आचार्य शिवपूजन सहाय के निबंधों में नारी-विमर्श	- डॉ. शिववंश पाण्डेय	0
6.	आचार्य शिवपूजन का कथा-साहित्य : सामाजिक कुरीतियों का प्रस्थान बिन्दु	- अरविन्द कुमार	0
7.	साहित्य के अनन्य साधक : आचार्य शिवपूजन सहाय	- डॉ. जंगबहादुर पाण्डेय	0
8.	विश्व कोश के प्रतिनिधि पुरुष : महापंडित राहुल सांकृत्यायन	- आचार्य श्रीरंजन सूरिदेव	0
9.	आचार्य शिवपूजन एवं महापंडित राहुल सांकृत्यायन पर एक दृष्टि	- योगेन्द प्रसाद मिश्र	0

सम्पादक और सम्पादकीय विभाग के सभी पद अवैतनिक हैं।

❖

आलेखों एवं विज्ञापनों में व्यक्त विचार लेखकों एवं विज्ञापनदाताओं के निजी विचार हैं। पत्रिका-परिवार का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

❖

विवाद की स्थिति में पटना स्थित न्यायालय ही सक्षम न्यायालय होगा।

स्थायी आमंत्रित सदस्य (सभी समितियाँ एवं उप-समितियों के अध्यक्ष/संयोजक)

क्र.सं.	नाम		पदनाम
1.	प्रो. शशि शेखर तिवारी	:	अध्यक्ष, परामर्शदातृ समिति
2.	डॉ. मेहता नगेन्द्र सिंह	:	अध्यक्ष, अनुशासन तथा सदस्यता परिशोधन समिति
3.	डॉ. विनोद कुमार मंगलम	:	संयोजक, साहित्य समिति
4.	पं. गणेश झा	:	संयोजक, पुस्तकालय समिति
5.	श्री ज्ञानेश्वर शर्मा	:	संयोजक, अर्थ समिति
6.	श्री अभिजीत कश्यप	:	संयोजक, स्थापना दिवस आयोजन समिति
7.	श्री श्रीकांत सत्यदर्शी	:	संयोजक, प्रकाशन समिति
8.	डॉ. विनोद शर्मा	:	अध्यक्ष, शोध एवं प्रशिक्षण समिति
9.	श्री सुशील कुमार झा	:	संयोजक, प्रतियोगिता आयोजन समिति
10.	श्री प्रवीर कुमार पंकज	:	संयोजक, प्रबंध समिति
11.	श्रीमती शालिनी पाण्डेय	:	संयोजक, महिला साहित्यकार समिति
12.	श्री रामनंदन पासवान	:	संयोजक, प्रचार समिति
13.	ई. आनंद किशोर मिश्र	:	संयोजक, निर्माण एवं विकास समिति
14.	श्रीमती अंजुला कुमारी	:	संयोजक, कला समिति
15.	श्रीमती सरोज तिवारी	:	संयोजक, लोकभाषा समिति
16.	श्री विश्वमोहन चौधरी संत	:	संयोजक, योजना व कार्यान्वयन
17.	श्री सुधीर कुमार मंटू	:	संयोजक, समन्वय एवं प्रारूप समिति
18.	श्री नरेनद्र कुमार झा	:	अध्यक्ष, पुस्तक मेला आयोजन समिति
19.	श्री अरुण कुमार सिंह	:	संयोजक, पुस्तक मेला आयोजन समिति
20.	श्री हरेन्द्र चतुर्वेदी	:	संयोजक, सुरक्षा एवं व्यवस्था समिति
21.	श्री अमरेन्द्र कुमार	:	संयोजक, कार्यशाला आयोजन समिति
22.	श्री अभिजीत पाण्डेय	:	संयोजक, जनकार्य समिति
23.	श्री नेहाल कुमार सिंह 'निर्मल'	:	संयोजक, युवा साहित्यकार समिति

सम्मेलन के अधिकारी के रूप में स्थायी आमंत्रित सदस्य

1.	डॉ. नागेश्वर प्रसाद यादव	:	सम्मेलन-भवन अभिरक्षक
2.	श्री राजनाथ मिश्र	:	आय-व्यय परीक्षक
3.	आचार्य आनंद किशोर शास्त्री	:	समन्वयक, साहित्य सम्मेलन विद्यापीठ
4.	डॉ. अमरनाथ प्रसाद	:	मुख्य प्रवक्ता
5.	श्री सुमन कुमार मल्लिक	:	प्रवक्ता
6.	श्री बिन्देश्वर प्रसाद गुप्ता	:	प्रवक्ता
7.	श्री नीरव समदर्शी	:	प्रवक्ता
8.	श्री रोहित कुमार	:	प्रवक्ता

सम्पादकीय आभार



डॉ. शिववंश पाण्डेय

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के उनतालीसवें महाधिवेशन के अवसर पर उसके मुखपत्र के रूप में प्रकाशित 'सम्मेलन-पत्रिका' का यहा विशेष अंक आप प्रबुद्ध जन के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार प्रसन्नता हो रही है। प्रसन्नता के अन्य कई कारणों के साथ मुख्य कारण यह है कि सम्मेलन ने पत्रिका का यह अंक हिन्दी भाषा और साहित्य के उत्तुंग शिखरस्थ दो महारथियों पर केन्द्रित रखा है, संयोग से जिनके आविर्भाव के 125 वर्ष इस साल होने जा रहे हैं। ये राष्ट्रख्याति प्राप्त कीर्तिलब्ध साहित्य-मनीषी हैं बहुभाषाविद् रचनाकार, राष्ट्रहित-चिन्तक पद्मभूषण आचार्य महापंडित राहुल सांकृत्यायन और हिन्दी भाषा और साहित्य के मूर्द्धन्य सर्जक पद्मभूषण आचार्य शिवपूजन सहाय।

इन दोनों साहित्य-साधकों की जीवन-यात्रा से लेकर उनके कर्तृत्व पर यदि हम दृग्पात करें तो बहुत सारी ऐसी समानताएँ देखने को मिलती हैं जो दैवयोग से ही संभव होती है। कतिपय ध्यानाकर्षी समानताएँ हैं–

(क) दोनों का एक वर्ष और एक तारीख को ही इस धरती को सनाथ करना। महापंडित राहुल सांकृत्यायन का अवतरण 09 अप्रैल 1893 को और आचार्य शिवपूजन सहाय का आविर्भाव 09 अगस्त, 1893 को।

(ख) दोनों का तिरोभाव (लोकान्तरण) भी 70 वर्ष की अल्पवय में 1963 ई॰ में।

(ग) दोनों आचार्यों का एक से अधिक विवाह (आचार्य राहुल सांकृत्यायन की रूसी पत्नी लोला के बाद कमला जी से विवाह और आचार्य शिवपूजन सहाय की अंतिम पत्नी बच्चन देवी जिनके नाम सहाय जी द्वारा प्रदत्त धनराशि से सम्मेलन में नियमित रूप से साहित्यिक गोष्ठियाँ होती रही थीं।

(घ) दोनों साहित्यसेवियों का प्रथम विवाह बहुत कम उम्र में ही उन दिनों की प्रचलित प्रथा के अनुसार हो गया था जिनका अंशत: प्रभाव उनकी जीवन-लीला पर पड़ा था।

(ङ) हिन्दी भाषा और साहित्य के ये दोनों सारथी भोजपुरी भाषी क्षेत्र के बिरवा रहे हैं–राहुल जी आजमगढ़ (उत्तर प्रदेश) और सहाय जी भोजपुर जिले (बिहार) के उन्वांस गाँव के जहाँ आज भी उनके द्वारा स्थापित पुस्तकालय में रखी पुस्तकें सरकार की उदासीनता के कारण धूल चाट रही हैं या दीमक का ग्रास बन घुणाक्षर न्याय का आधार बन रही हैं।

(च) दोनों साहित्य देवों की मूर्तियाँ उनके जन्मस्थानों पर लगी हुई हैं, भले ही उनकी पूजन-विधि सदा प्रश्नों के घेरे में रही है।

(छ) राष्ट्रभाषा हिन्दी के नामचीन योद्धा होने के साथ-साथ वे लोकभाषा और लोक-साहित्य के अनन्य सर्जक और प्रशंसक रहे थे।

(ज) इन दोनों रचनाकारों का रचना-फलक विराट् था। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध से लेकर भौगोलिक, ऐतिहासिक महत्व तक की इनकी रचनाएँ विद्वत् समाज में आदर पाती रही हैं। 'मध्य एशिया का इतिहास' राहुल जी की और 'बिहार का विहार' आचार्य शिवपूजन सहाय की भौगोलिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व के प्रामाणिक दस्तावेजों में परिगण्य हैं। अपने 34-35 वर्ष के रचनाकाल में राहुलजी ने लगभग 50 हजार पृष्ठों का साहित्य लिखा है। इसी प्रकार आचार्य सहाय जी का रचना-संसार भी काफी विस्तृत है जो अनामिका प्रकाशन द्वारा दिल्ली से 10 खण्डों में प्रकाशित हुआ है।

(झ) दोनों विपश्चित विद्वानों ने अध्यापन-कार्य द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में ज्ञान के वितान का क्षेत्र विस्तारित किया है। आचार्य राहुलजी श्रीलंका में दर्शन के प्राध्यापक थे और लेनिनग्राड (रूस) में हिन्दी पढ़ाते थे। वहीं लोला जी पढ़ती थीं जहाँ से उनकी इनसे शादी हुई। आचार्य सहाय जी राजेन्द्र कॉलेज, छपरा (बिहार) में हिन्दी के प्राध्यापक रहे थे। यहीं से वे बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् में संचालक पद पर नियुक्त हो पटना पधारे थे।

(ञ) दोनों साहित्य-उपासकों ने अपनी आत्मकथात्मक जीवनियाँ लिखी हैं जो आत्मकथात्मक कोटि की श्रेष्ठ और मानक कृतियाँ में शुमार हो रही हैं। राहुल जी की पाँच खण्डों में प्रकाशित कृति **'मेरी जीवन-यात्रा'** और शिवपूजन सहाय जी की आत्मकथा **'मेरा-जीवन'** इस विधा की उद्धरणीय कृतियाँ हैं।

(ट) महापंडित राहुल और आचार्य शिवपूजन सहाय दोनों ही बिहार-हिन्दी- साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों के अध्यक्ष रहे थे।

(ठ) इन दोनों नित्य वंदनीय साहित्य-पंडितों की कर्मभूमि बिहार ही रही। आचार्य सहाय जी तो बिहार के जन्मवासी थे पर राहुल जी तो उत्तर प्रदेश के जन्मवासी होते हुए भी अधिकतर काल तक बिहार की भूमि पर ही ज्ञान-यज्ञ की मशाल जलाते रहे। यहीं के परसा मठ में वे केदार पाण्डेय से 'राम औदार दास' हुए और यहीं से किसान-सम्मेलन का नेतृत्व करते रहे और यहीं के हजारीबाग जेल में बंदी रहे। बिहार में ही कम्युनिस्ट पार्टी के गठन में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

(ड) इन दोनों साहित्यान्वेषकों ने बिहार को अनेक महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ और कलाकृतियाँ उपलब्ध कराईं। महापंडित राहुल ने 1930 ई॰ में तिब्बत से बौद्ध साहित्य की अनेक दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ, चित्रपट, कलाकृतियाँ खच्चरों पर लादकर भारत लाने में जान लगा दी जो आज बिहार के पटना स्थित संग्रहालय में बौद्ध साहित्य और सभ्यता की अमूल्य धरोहर के रूप में संरक्षित हैं। आचार्य सहाय ने भी बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के अपने कार्यकाल में घूम-घूम कर, वाहकों को भेज-भजेकर अनेक दुर्लभ पाण्डुलिपियों का संग्रह कराया जिनमें कई सम्पादित होकर प्रकाशित हो गई हैं और बहुत सम्पादन और प्रकाशन की बाट जोह रही हैं।

इन कतिपय समानताओं के प्रतिकूल उनके लेखन, चिन्तन में कई उल्लेखनीय असमानताएँ भी थीं जिनमें प्रमुख हैं–

(क) अपने प्रारंभिक एवं साधु-जीवन के क्रम में राहुल जी ने समाज का जो स्वरूप देखा, विषमता का जो विद्रूप देखा उससे उनका चित्त दहल गया और वे सक्रिय राजनीति की ओर मुड़ गए। पहले कांग्रेस पार्टी, बाद में किसान-आन्दोलन और अंत में कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गए। इसी क्रम में उन्होंने सोवियत रूस और चीन की कई यात्राएँ की। राजनीतिक दलों में वे पूर्णत: सक्रिय रहे और स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान कई बार जेल भी गए। पर आचार्य सहाय जी यद्यपि स्वतंत्रता-संग्राम में अपनी रचनाओं, सम्पादकीय टिप्पणियों द्वारा विदेशी शासकों पर प्रहार करते रहे पर राहुल जी जैसी सक्रियता उनमें नहीं देखी गई। पर सहाय जी की शासन-विरोधी प्रतिक्रिया सम्पादकीय रूप में कितनी तीखी होती थी, स्थालीपुलाक न्यायवत् मात्र एक उदाहरण निदर्शनार्थ– **'देश की जागृति कभी निष्फल नहीं होती। गरीबों की पुकार सुनकर भगवान का आसन भी डोल जाता है। भारत उठेगा, कोटि-कोटि दरिद्रों का रक्त पीकर अकड़नेवाले देशद्रोहियों को उनके कर्मों का फल भोगना पड़ेगा।** जो के चाहे काली हों, या गोरी भारत का रक्त एक दिन उनका पेट फाड़ेगा (मतवाला वर्ष 02 अंक 06 में आचार्य सहाय की सम्पादकीय टिप्पणी।')

(ख) राहुल जी ने शुद्ध सर्जनात्मक साहित्य-रचनाओं के परिणाम के अनुसार अपेक्षाकृत कम लिखा और राजनीतिक ऐतिहासिक, पुरातात्त्विक विषयों की ओर अधिक ध्यान दिया। बौद्ध दर्शन, समाज विज्ञान, संस्कृति, धर्म आदि उनके चिंतन और लेखन के प्रमुख विषय रहे।

(ग) आचार्य सहाय जी का सम्पादकीय क्षेत्र विशाल रहा। इसके अन्तर्गत पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तकें आदि सब आती हैं। उन्होंने 'मारवाड़ी सुधार', मासिक 'गंगा', पाक्षिक 'जागरण', मासिक 'हिमालय', त्रैमासिक 'परिषद्-पत्रिका', त्रैमासिक 'साहित्य', 'सुधा', 'माधुरी' आदि पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन के साथ कई महत्त्वपूर्ण अभिनंदन-ग्रन्थों, पुस्तकों का सम्पादन किया है

जिनमें विशेष उद्धरणीय हैं– **'द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ', 'प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ, देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद अभिनंदन ग्रंथ** (बिहार की महिलाएँ) आदि। इसके अतिरिक्त उन्होंने मुंशी प्रेमचंद के उपन्यास 'रंगभूमि' का भी संपादन किया था, ऐसा सुनने को मिलता है। सम्पादक के रूप में आचार्य सहाय की महार्घता से सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् अवगत है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के बाद यदि कोई भाषा-अनुशासक हुआ तो वे आचार्य शिवपूजन सहाय ही थे।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन को यदि विधावार साहित्य-भंडार को भरने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रतिस्थानी माना जाए तो निस्संदेह भाषा-अनुशासक के रूप में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रतिस्थानी आचार्य शिवपूजन सहाय ठहरते हैं। सदा छेनी-हथौड़ा लेकर बैठा रहा यह शब्दशिल्पी रचनाओं को खरादकर ऐसा सुडौल और सुदर्शनीय बना देता कि स्वयं रचनाकार भी स्तंभित हो जाता। ऐसी सम्पादकीय दक्षता के कुशल कारीगर रूप में आचार्य सहाय का स्थान साहित्य-जगत् में आज भी अविजित ही रहा है।

(घ) लोक संस्कृति और लोकभाषा की त्वरा जिस लाघवता के साथ आचार्य सहाय ने अपनी रचनाओं में उकेरा है उससे स्पष्ट है कि वे लोक संस्कृति और लोकभाषा के सह-संबंधों को जागृत करने वाले अनमोल चितेरे हैं। उनके चर्चित उपन्यास 'देहाती दुनिया' इसका पुष्ट प्रमाण है। 'हिन्दी के इस तथाकथित उपन्यास को आचार्य शिवपूजन सहाय 'ठेठ देहात का औपन्यासिक चित्र' कहते थे। इनकी कहानियों में भी लोक-संस्कृति और लोकभाषा की सुगंधित छौंक है। लोकभाषा और लोक-संस्कृति का इतना सुन्दर विनियोग-शायद ही किसी की रचनाओं में हुआ है।

(ङ) साहित्यिक सेवा और राष्ट्रीय भावोद्बोधन-प्रयास में यद्यपि दोनों की यायावरी वृत्ति अति व्यापक रही है फिर भी यायावरी वृत्ति में राहुल जी अन्यतम रहे हैं। देश-विदेश की यात्रा कर उन्होंने भारतीय जीवन-दर्शन, राजनीतिक सिद्धान्तों का जहाँ प्रचार किया वहाँ आचार्य सहाय ने पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन कार्य से पटना, कोलकत्ता, वाराणसी, लखनऊ आदि स्थानों को अपनी वासभूमि बनाया।

(च) डॉ॰ प्रभाकर माचवे के अनुसार राहुल जी 34 से अधिक भाषाओं के सुविज्ञ जानकार थे।

(छ) विभिन्न विषयक लगभग गुरु-लघु 150 पुस्तकों की रचना कर राहुल जी ने एक कीर्तिमान स्थापित किया।

(ज) इसके विपरीत आचार्य सहाय जी ने विभिन्न विषयों के राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वानों से विशिष्ट विषयों पर पुस्तकें लिखवाकर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से सम्पादित कर प्रकाशित कराया जो उक्त विषयों पर हिन्दी में लिखी प्रामाणिक पुस्तकें मानी जाती हैं और जिनके जुड़ जाने से बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् सहित सम्पूर्ण हिन्दी-समाज का भंडार सनाढ्य हुआ है। उदाहरण तौर पर महामहोपाध्याय पं॰ गोपीनाथ कविराज, डॉ॰ वासुदेव शरण अग्रवाल, डॉ॰ रामावतार शर्मा, डॉ॰ फूलदेव सहाय वर्मा, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, आचार्य विश्वनाथ वर्मा आदि के नाम संकीर्तनीय हैं।

(झ) सरल, सहज और बोधगम्य शैलीकार के रूप में आचार्य सहाय सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् में एक विशिष्ट शैलीकार के रूप में स्मरण किए जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सरदार पूर्ण सिंह, रायकृष्णदास जैसे निबंध-लेखकों की शैली के सामासिक रूप के दर्शन इनके आलेखों में देखे जा सकते हैं।

(ञ) कथाकार के रूप में आचार्य सहाय की भाषा और शैली दोनों पाठकीय अपेक्षाओं की दृष्टि से न केवल स्पृहणीय रही है, अपितु अनुकरणीय और वंदनीय रही है।

समग्रतः देखा जाए तो कहा जा सकता है कि ये दोनों आचार्य हिन्दी साहित्य-गगन के ध्रुव तारे की तरह हिन्दी साहित्य-गगन में द्युतिमान रहे हैं। भौतिक एषणाओं से सर्वथा विरत रहते हुए इन्होंने वाग्देवी की आराधना में अपना सब कुछ होम कर दिया है। राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की सेवा में ही उन्होंने अपने शरीर को मोम की तरह पिघला दिया है। फलतः एक (राहुलजी) क्रमशः स्मृति-लोप और दूसरे (आचार्य सहाय) यक्ष्मा की असाध्य व्याधि से ग्रस्त हो इस असार संसार से विदा हुए। वे गए तो अवश्य पर एक संदेश छोड़ गए कि राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की सेवा में शरीर का त्याग भी मातृभूमि के प्रति तुच्छ बलिदान है।

सम्मेलन के महाधिवेशन के अवसरोपयुक्त और पद्मभूषण महापंडित राहुल सांकृत्यायन और पद्मभूषण आचार्य शिवपूजन सहाय जैसे विपश्चित विद्वानों एवं साहित्य-शास्त्रियों की मर्यादा के अनुरूप अपेक्षित समय, श्रम, स्थान एवं सहयोग के अभाव में यद्यपि पत्रिका के इस अंक को हम यथाकांक्षित और यथावांछित रूप नहीं दे सके और हमने अल्पमात्रा में बटोरे अपने स्नेहनीर से इनके अपार्थिव चरणों को शुद्ध हृदय से प्रक्षालित करने का यथामति और यथाशक्ति काम अवश्य किया है।

मैं पत्रिका के लिए उन सभी अंशदाता लेखकों का आभारी हूँ जिनके लेखकीय सहयोग बिना मैं इसे इस रूप में प्रस्तुत करने में सफल नहीं होता।

इस पुनीत पर्व के अवसर पर सम्मेलन द्वारा जिन-जिन विद्वानों, विदुषियों, साहित्यसेवियों को सम्मानित किया गया है उन्हें हार्दिक बधाई देते हुए हम उनके सुदीर्घ साहित्यिक सेवा के नैरन्तर्य की कामना करते हैं।

आयोजन में पधारे सभी सम्मान्य अतिथियों, प्रतिनिधियों, साहित्य-सेवियों का सम्मेलन की ओर से हार्दिक अभिनंदन।

पत्रिका-परिवार और सम्मेलन ने जो कुछ किया है उसके शत प्रतिशत श्रेय भागी सम्मेलन के अत्युत्साही, कर्मठ और लेखक-कवि-गीतकार डॉ॰ अनिल सुलभ हैं जो सदा पगे-पगे हमारा मार्ग निर्देशित करते रहे हैं। मैं सह-सम्पादक श्री योगेन्द्र प्रसाद मिश्र को विशेष साधुवाद देता हूँ जिन्होंने अहर्निश श्रम कर इसे प्रकाशन योग्य बनाया है। पत्रिका-परिवार सहित सम्मेलन-परिवार के सभी मान्य सदस्य हमारे पथ-प्रदर्शक रहे हैं। उनके प्रति हमारी असीम श्रद्धा निवेदित है।

हम हिन्दी के पुत्र, हमारी भाषा हिन्दी।

- (डॉ.) शिववंश पाण्डेय

❖●❖

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटे न हिय को सूल।।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

स्वागताध्यक्ष का भाषण



पद्मश्री डॉ. सी.पी. ठाकुर

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के 39वें महाधिवेशन में पधारी गोवा की राज्यपाल डॉ॰ मृदुला सिन्हा तथा मेघालय के महामहिम राज्यपाल श्री गंगा प्रसाद जी का साहित्य-सम्मेलन की ओर से और पटनावासियों की ओर से हार्दिक स्वागत और अभिनंदन करता हूँ। इनके आगमन से हम सभी लोग कृतार्थ हुए। हिन्दी के सारे विद्वान् पधारे हैं, उनका भी स्वागत है। पाटलिपुत्र या पटना की धरती पर सम्मेलन में आने के लिए आप सभी को कोटि-कोटि धन्यवाद और अभिनन्दन। पटना को पाटलिपुत्र कहना उचित है कि नहीं? यह तो आपलोग ही बतायेंगे।

मैं सम्मेलन के अध्यक्ष डॉ॰ अनिल सुलभ जी का आभारी हूँ जिनके चलते मैं आपलोगों के सामने खड़ा हूँ। इस सम्मेलन के अधिकारीगण श्री नृपेन्द्र नाथ गुप्त, डॉ॰ श्रीरंजन सूरिदेव, डॉ॰ शंकर प्रसाद, डॉ॰ शिववंश पाण्डेय, पं॰ शिवदत्त मिश्र, डॉ॰ कुमार अरुणोदय, डॉ॰ मधुवर्मा, डॉ॰ कल्याणी कुसुम सिंह, योगेन्द्र प्रसाद मिश्र आदि के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

जब विशाल भारतवर्ष की राजधानी पाटलिपुत्र थी, पाटलिपुत्र एक विशाल नगर था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय के पाटलिपुत्र का सीरिया (यूनान) के राजदूत मेगास्थनीज के ग्रंथ 'इंडिका' में शानदार वर्णन है। चाणक्य ने जो मगध राज्य का निर्माण किया था, राज्य का पहला संविधान बनाया था, उसमें भी पाटलिपुत्र का शानदार विवरण है। चाणक्य का बनाया हुआ संविधान कहा जा सकता है कि यह अखण्ड भारत का पहला संविधान था। पाटलिपुत्र की गरिमा अतुलनीय थी। क्या हम पटना की उसी गरिमा को पुनः प्राप्त करा सकते हैं?

आज हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास काफी हुआ है। इस विकास में महात्मा गाँधी का भी बहुत बड़ा योगदान रहा है। महात्मा गाँधी ने स्वतंत्रता-आंदोलन की भाषा हिन्दी को बनाया। यह हिन्दी के लिए गौरव की बात है। कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन में सुबह के सत्र में लोकमान्य तिलक और अन्य विद्वानों ने अंग्रेजी में भाषण दिया, और कोई ताली नहीं बजी। दोपहर के बाद वाले सत्र में महात्मा गाँधी ने हिन्दी में भाषण दिया और तालियों की गड़गड़ाहट जो शुरू हुई वह बंद ही नहीं हुई। हिन्दी के भाषण के महत्त्व को सभी ने समझा और दूसरे दिन से सबों ने हिन्दी में भाषण दिया।

स्वतंत्रता मिल गई। हिन्दी के लिये यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। बाद में हिन्दी राजभाषा भी हो गई। केन्द्र में सरकारी कार्य भी हिन्दी में होने लगा। लेकिन इन सभी बातों के बावजूद क्या हिन्दी पूर्ण गरिमा प्राप्त कर पाई है? क्या हिन्दी ज्ञान और विज्ञान की भाषा बन सकी है? हिन्दी भाषा की प्रगति बहुत हुई है। इसमें बिहार के विद्वानों का भी कम योगदान नहीं है। विज्ञान में कुछ विद्वानों ने इंटरमीडियेट-विज्ञान तक कुछ किताबों को हिन्दी में लिखा है। लेकिन ऊपर की कक्षाओं के लिए अभी कोई अच्छी किताब तैयार नहीं हो पायी है। क्या स्नातकोत्तर विज्ञान की पढ़ाई हिन्दी में नहीं हो सकती है? चिकित्सा-विज्ञान एवं अभियंत्रण की पढ़ाई हिन्दी में क्यों नहीं होती है? इतने दिनों की आजादी के बाद हमारी भाषा श्रेष्ठता के शिखर पर क्यों नहीं पहुँच पायी है? फ्रांस में चिकित्सा-विज्ञान की पढ़ाई अंग्रेजी में नहीं होती। वही बात जर्मनी, स्पेन और इटली की है। सभी देश अपनी-अपनी भाषा में विज्ञान की शिक्षा देते हैं। सभी देश की भाषाओं में विज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान एवं अभियंत्रण की किताबे वहीं की भाषा में उपलब्ध हैं। जब हमें स्वतंत्र हुए वर्षों बीत गये, तो क्या हम विज्ञान को पढ़ाने के लिए किताबों को तैयार नहीं कर सकते हैं? सारे विद्वान् जो यहाँ बैठे हुए हैं, उन सबों को इस विषय पर चिंतन-मनन करना चाहिए।

हमारे वेदों की रचना ईसा के कम से कम हजार वर्ष पहले हुई। और कितनी सारी रचनाएँ हुई हैं। ये रचानएँ यहाँ के आर्यो ने की है। बाहर से आकर कोई जाति-समूह इतनी रचना कर सकता है? इसलिए इस सिद्धांत पर कि आर्य लोग मध्य एशिया से भारतवर्ष आये, सोचने की आवश्यकता है। जो आदमी बाहर से कहीं जाता है तो हमेशा अस्थिर रहता है। इस बात पर भी संदेह होता है कि आर्यो ने बाहर से आकर इतनी रचनाएँ की। मेरे विचार में वे यहीं के निवासी थे और मध्य-एशिया से आना-जाना करते थे।

इसी प्रसंग में पंडित जवाहर लाल नेहरू जी के विचारों का यह अंश विशेष द्रष्टव्य है; "इतिहास में कभी-कभी ऐसा भी समय आता है कि जब परिवर्तन की प्रक्रिया और उसकी तेजी कुछ अधिक प्रत्यक्ष हो जाती है। लेकिन साधारणत: बाहर से उसकी गति दिखाई नहीं देती। परिवर्तन का बाहरी रूप प्राय: निस्पन्द ही दिखता है। जातियाँ जब अगति की अवस्था में रहती हैं, तब उसकी शक्ति दिनों-दिन छिजती जाती है। उनकी कमजोरियाँ बढ़ती जाती हैं। परिणाम यह होता है कि उसकी रचनात्मक कलाओं और प्रवृत्तियों का क्षय हो जाता है। तथा अक्सर, वे राजनैतिक दृष्टि से गुलाम भी हो जाती हैं। देखने से लगता है कि भारत-वर्ष में ऐसी घटना घटी है। जिन लोगों ने वेद-वेदान्त, सांख्य, उपनिषद् की रचना की, धीरे-धीरे उनकी प्रगति शून्य हो गई। देश निष्क्रियता की अवस्था में पहुँच गया था। स्वतंत्रता के बाद इसकी अब फिर से सृजनात्मक शक्ति को गति में लाना होगा। तभी यह अन्य देशों की बराबरी कर सकता है और अपनी पुरानी सृजनात्मक शक्ति का संचार कर सकता है।"

अंत में पुन: और बारंबार आप सबका हृदय से बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से, तथा अपनी ओर से भी, सादर अभिनंदन करता हूँ।

- डॉ. सी.पी. ठाकुर
स्वागताध्यक्ष

❖●❖

क्या आप जानते हैं-

इस वैश्वीकरण की दुनिया में हिन्दी जानने वालों की संख्या एक अरब उनतीस करोड़ छियासी लाख सतासी हजार नौ सौ पचपन है। यह संख्या विश्व की कुल आबादी की अठारह प्रतिशत है। यहाँ हर छठवां आदमी हिन्दी जानता है।

अध्यक्षीय सम्बोधन



डॉ. अनिल सुलभ
अध्यक्ष

बिहार-हिंदी-साहित्य सम्मेलन का यह 39वाँ महाधिवेशन सम्मेलन की स्थापना के **शताब्दी-द्वार** को दस्तक दे रहा है। 17-18 मार्च, 2018 को आहूत इस दो दिवसीय महाधिवेशन को संपन्न कर जब हम घर लौटेंगे तो, पूर्व के क्षितिज पर, सम्मेलन के शताब्दी-वर्ष का प्रज्वल सूर्य उदित हो रहे होंगे, जिसके दिव्य प्रकाश में, हिंदी का संसार और भी प्रदीप्त होगा। अंधकार के सारे पक्ष, दिव्य प्रभा में विलीन होकर सुवासित उषा का स्वागत करेंगे। सम्मेलन का शताब्दी-वर्ष, हिंदी की दिव्यता को निखिल विश्व में बिखेरने का एक सुदीर्घ और महान् प्रकाश-स्तम्भ बन कर प्रस्तुत होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

विगत 99 वर्षों में साहित्य-सम्मेलन ने, अनेक पाप-ग्रहों की वक्र दृष्टियों के बाद भी, हिंदी भाषा और साहित्य समेत, भारतीय भाषाओं की उन्नति के लिए जो कुछ भी किया है, वह इतिहास-शेष है। 19 अक्टूबर, 1919 को हुई अपनी स्थापना से लेकर अबतक, सम्मेलन ने हिंदी के समक्ष आने वाली सभी बाधाओं को दूर करने की चेष्टा की है। भाषा और साहित्य की समृद्धि और उन्नयन के लिए निरंतर सक्रिय इस संस्था ने विशिष्ट और मौलिक कार्य किए हैं। मनीषी साहित्यकारों को उचित सम्मान देने, पुस्तकों के प्रकाशन, नवोदितों की पांडुलिपियों के परिशोधन और मार्ग-दर्शन से लेकर विविध यत्नों से, सम्मेलन ने संपूर्ण बिहार ही नहीं, अपितु भारतवर्ष के साहित्यसेवियों के बहुविध उत्साह-वर्द्धान और मार्ग-दर्शन के कार्य किए हैं।

सम्मेलन अपना 39वाँ महाधिवेशन मनाने जा रहा है। यदि कतिपय बाधाओं के कारण इसमें व्यतिक्रम नहीं उत्पन्न हुआ होता तो यह 99वाँ महाधिवेशन होता। अपनी स्थापना के अनेक वर्षों तक सम्मेलन ने प्रतिवर्ष अपने अधिवेशन किए। प्रथम बार, 1942 के 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' आंदोलन से, देश भर में उत्पन्न हुई अस्थिरता तथा सम्मेलन के अधिकारियों की गिरफ्तारी के कारण, अधिवेशन के आयोजन में व्यतिक्रम पड़ा। स्वतंत्रता-प्राप्ति तक फिर कोई अधिवेशन नहीं हो सका। स्वतंत्र-भारत में यह महान् क्रम पुनः आरंभ हुआ, जो अगले 10 वर्षों तक राष्ट्र-व्यापी स्वरूप में आहूत होता रहा। यह बिहार-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का स्वर्णिम-काल था। तब सम्मेलन के अध्यक्ष थे, भाषा और आलोचना के शिखर-पुरुष, स्तुत्य साहित्यकार आचार्य शिवपूजन सहाय। सम्मेलन के साहित्य मंत्री के रूप में उनके सबल सहयोगी थे अद्‌भुत प्रतिभा के धनी साहित्यालोचक और प्रयोग-धर्मी कवि आचार्य नलिन विलोचन शर्मा। इस युग में, जिसे मैं हिंदी साहित्य सम्मेलन का 'आचार्य शिवपूजन-नलिन युग' मानता हूँ, सम्मेलन ने साहित्य-संसार में बिहार की प्रतिष्ठा संपूर्ण भारत-वर्ष में ही नहीं अपितु निखिल विश्व में बढ़ाई। तब प्रकाशित हो रही सम्मेलन की शोध त्रैमासिकी **'साहित्य'**, जर्मनी, इंगलैड, फ्रान्स, रूस और अमेरिका समेत अनेक राष्ट्रों के पुस्तकालयों में प्रतिष्ठा-पूर्वक स्थान पा रही थी। आज भी उन पुस्तकालयों में तबके **'साहित्य'** के अंक देखे जा सकते हैं।

'साहित्य', भारत वर्ष के साहित्यकारों के हृदयों में विशिष्ट स्थान बना चुकी थी। बड़े-बड़े साहित्यकार व साहित्यालोचक उसमें छपने को लालायित रहते थे। उसमें एक पृष्ठ भी छप जाना राष्ट्रीय-प्रतिष्ठा और गौरव की बात हुआ करती थी। **'साहित्य'** में छपे निबंध अथवा आलोचना की चर्चा संपूर्ण भारतवर्ष में हुआ करती थी। इन दोनों ही साहित्यिक वटवृक्षों की लेखनी में एक चमत्कारिक सामर्थ्य था। जिन पर वे लेखनियाँ उठ गईं, वे धन्य हो जाते थे। अनेक प्रतिभाशाली किंतु अलक्षित साहित्यकार, उन दिव्य-लेखनियों की कृपा पाकर साहित्य-संसार में छा गए। महान् कथा-शिल्पी फणीश्वर नाथ 'रेणु' इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। इसी **'साहित्य'** के एक अंक में आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने रेणु जी की पुस्तक 'मैला-आँचल' पर समीक्षा लिखी थी और उसे

हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ 'आँचलिक-उपन्यास' की संज्ञा दी थी। फिर क्या था! 'मैला आँचल' और फणीश्वर नाथ रेणु, दोनों ही, रातो-रात साहित्य-संसार में विशिष्ट हो गए।

यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि, आचार्य शिव पूजन सहाय ने कथा-सम्राट मुंशी प्रेमचंद्र के अनेक पुस्तकों का परिशोधन किया था। प्रेमचंद्र जी आचार्यजी पर इतनी श्रद्धा रखते थे कि, वे अपनी पुस्तकों को, प्रकाशन के पूर्व, एक बार आचार्य जी से दिखा लेना आवश्यक समझते थे। यहाँ तक कि, विश्व-महाकाव्य में परिगणित विश्व-विश्रुत अमर-काव्य 'कामायनी' के महाकवि जयशंकर प्रसाद भी अपनी पांडुलिपियाँ आचार्य जी से दिखा लेना सौभाग्य समझते थे। माना जाता है कि, 'कामायनी' के लिए भी आचार्य जी ने अनेक महत्त्वपूर्ण परामर्श दिए, जिन्हें प्रसाद जी ने स्वीकार किया।

'शिवपूजन-नलिन युग' के बाद सम्मेलन पाप-ग्रहों की वक्र-दृष्टि से अभिशप्त होने लगा। धीरे-धीरे उसकी कांति धूमिल होने लगी। सरस्वती के इस विशाल मंदिर के स्वर्ण-कलश अपनी दिव्यता खोने लगा। और आगे चलकर एक दौर ऐसा भी आया, जब सम्मेलन-परिसर असाहित्यिक अवांछितों की क्रीड़ा-स्थली में परिवर्तित हो गया। यह सम्मेलन का सर्वाधिक अंधकार-पक्ष था।

किंतु साहित्य-सम्मेलन को अपना मन-प्राण देने वाले और अपने रक्त से सिंचित करने वाले उन महान् दिव्यात्माओं की प्रेरणा और ऊर्जा से पुनः संगठित होकर साहित्य सम्मेलन अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रतिकार हेतु उद्यत हुआ और बहुविध बलिदानों के पश्चात् 'मुक्त' हुआ। तबसे, सीमित-साधनों में भी, पुनः आचार्यों की परंपरा में सम्मेलन निरंतर सक्रिय है और महाधिवेशनों के आयोजन भी नियमित हो रहे हैं। सम्मेलन की पुरानी गरिमा और महिमा वापस करने के संकल्प के साथ, बिहार के साहित्यकार इस यज्ञ में, बलिदानों की समिधा डाल रहे है। वाग्देवी प्रसन्नता के लिए जो भी मूल्य लेना चाहती हैं, वह सब कुछ देने के लिए साहित्य-समाज तत्पर है।

साहित्यकारों के बलिदान व्यर्थ नही जाते। सम्मेलन की प्राचीन गरिमा पुनः लौटी है। पूर्व में जिस प्रकार श्रद्धा-भाव से भारतवर्ष के सभी बड़े साहित्य-तपस्वी इस सारस्वत-मंदिर में पूजा करने आते थे, उसी भावना से पुनः उनके पदार्पण आरंभ हुए हैं। विगत चार महाधिवेशनों ने इस विचार की पुष्टि की है। हम इस हेतु विद्वानों के अत्यंत आभारी हैं। उनके भी, जिन्होंने इस महान्-यज्ञ में हमारा उत्साह बढ़ाया और भाँति-भाँति से सहयोग प्रदान किया।

सम्मेलन अब दूने उत्साह से अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति की दिशा में आगे बढ़ा है। **'साहित्य'** का, 'सम्मेलन साहित्य' के नाम से (भारत के समाचार-पत्रों के पंजीयक ने यही नाम स्वीकृत किया है), प्रकाशन पुनः आरंभ हो गया है। पुस्तकों के प्रकाशन भी पुनः आरंभ हो गए हैं। सम्मेलन की अपनी 'वेव-साइट' भी बन गई है, जिसे 'biharhindisahityasammelan-org' पर देखा जा सकता है। आगामी 19 अक्टूबर से आरंभ हो रहे 'शताब्दी-वर्ष-समारोह' में, सम्मेलन के सौ वर्षों के इतिहास पर एक संग्रहणीय 'इतिहास' के साथ अब तक के सभी अध्यक्षों के, महाधिवेशनों में दिए गए, अभिभाषणों के संग्रह के भी प्रकाशन की योजना है। आधे-घंटे के एक वृत-चलचित्र का भी निर्माण किया जाना है। किंतु इन सबसे बड़ी और महत्त्वाकांक्षी योजना है- **बिहार के सभी साहित्य-सेवियों के परिचय-ग्रंथ का प्रकाशन।** अनेक खंडों में प्रकाशित होने वाला यह पुस्तक-माला सम्मेलन के शताब्दी-वर्ष के सुग्रीवा में श्रद्धापूर्वक डाला जाना है। इस हेतु बिहार के सभी साहित्यकारों से आग्रह किया गया है कि, वे अपना एक पृष्ठ के परिचय और चित्र के साथ अपनी पाँच प्रतिनिधि रचनाएँ यथाशीघ्र सम्मेलन कार्यालय को उपलब्ध करा दें। सम्मेलन की भावना है कि, बिहार का एक भी साहित्य-सेवी छूट न जाए। हम एक बार सभी साहित्यकारों को साहित्य-सागर की विशाल नौका में रख लेना चाहते हैं। दिवंगत साहित्यकारों के संबंध में उनके परिजन या शुभेच्छु सामग्रियाँ उपलब्ध कराने की कृपा करें, ऐसा भी आग्रह किया जा चुका है।

शताब्दी-वर्ष में, पूरे वर्ष, बिहार के विभिन्न जिलों में, जिला-सम्मेलनों के सौजन्य से, विविध आयोजन, जिनमें अधिवेशन भी सम्मिलित हैं, किए जाएँगे। चेष्टा यह भी होगी कि, दिल्ली समेत देश के अन्य प्रांतों में भी कतिपय उल्लेखनीय उत्सव संपन्न हों, जिसमें संपूर्ण भारत-वर्ष के साहित्यकारों की भागीदारी हो और उन्हें विविध अलंकरणों से विभूषित किया जाए। समय आ गया है, जब हिन्दी विश्व-आंदोलन बन कर प्रकट हो। हमारे पूर्वजों और अग्रेजों ने हिंदी भाषा और साहित्य के आंदोलन को, देश की स्वतंत्रता के आंदोलन के समानांतर संपूर्ण भारत वर्ष में चलाया था। विश्व की भाषा बनाने की होड़ में आगे बढ़ चुकी हिंदी के लिए अन्तरराष्ट्रीय-आंदोलन आज अनिवार्य है।

हमारे इस विचार पर, कुछ मित्र और आचार्य यह प्रश्न कर सकते हैं कि, जब हिंदी, भारतवर्ष में ही राजकीय भाषा नहीं बन पायी है, विश्व की भाषा बनने की होड़ में क्यों? इस प्रश्न का सीधा उत्तर मेरे सामर्थ्य में नहीं है। संभवत: कुछ कालजयी प्रश्नों के उत्तर काल ही देता है। जिन दिनों (स्वतंत्रता-आंदोलन के आरंभिक-काल में), संपूर्ण (अखण्डित) भारतवर्ष की 'संपर्क-भाषा' हिंदी हो, को लेकर आंदोलन आरंभ हुआ था, उन दिनों, भी यह एक यक्ष प्रश्न था कि, ''क्या संपूर्ण भारतवर्ष को हिंदी स्वीकार्य होगी?

यह एक ऐतिहासिक सत्य और तथ्य है कि, संपूर्ण भारतवर्ष ने समय की माँग मानते हुए, हिंदी को हृदय से गले लगाया और आंदोलन को शक्ति दी। स्वतंत्रता के अमर बलिदानियों और देश के सभी बड़े नेताओं ने एक स्वर से कहा कि, ''हिंदी में पूरे भारत को एक करने और मजबूती प्रदान करने की अद्‌भुत क्षमता और सामर्थ्य है।'' और इस तरह संपूर्ण राष्ट्र में तिरंगे के साथ हीं 'हिंदी का ध्वज' भी लहरा उठा था। यह दुर्भाग्य है कि, स्वतंत्रता के पश्चात क्षुद्र राजनैतिक कारणों से हिंदी का आंदोलन शिथिल पड़ गया। घोषणा कर के भी भारत का शासन, हिंदी को वह स्थान नही दिया, जो 14 सितम्बर, 1949 को देने का वादा किया था। स्वतंत्रता के पश्चात हमारे पुरोधा अन्यान्य कार्यों में संलिप्त होते चले गए और राष्ट्रीय महत्त्व का यह कार्य पीछे छूट गया। इस कार्य को, और कुछ भी नही, बल्कि एक राजनैतिक निर्णय भर से किया जा सकता है, जो सत्ता के शीर्ष को लेना है।

दूसरी ओर हमें यह भ्रांति भी मिटानी होगी कि 'हिंदी' भारत की दूसरी लोक-भाषाओं पर लादी जा रही है या कि, इससे लोक-भाषाओं को किसी प्रकार का संकट है। हम यह मानते हैं कि भारत की समस्त भाषाएँ हमारी हैं और वो, वह पुण्य-सलीला सरिताएँ हैं, जिनके समागम से हिन्दी रूपी गंगा समृद्ध और व्यापक होती है। किसी भी प्रकार से लोक-भाषाओं पर कोई भी नकारात्मक प्रभाव नहीं होगा, बल्कि देश की एक भाषा, विश्व की महानतम भाषा बनकर समस्त भारतीय नागरिकों को विश्व-समादृत करेगी, गौरव प्रदान करेगी। यह कहना चाहूँगा कि, हिंदी में वे सारे तत्त्व अंतर्निहित हैं, जिनसे वह भारत की हीं नही, विश्व की भाषा बन कर रहेगी। आवश्यकता इस बात की है कि, भारतवर्ष में इसे वही सम्मान मिले, जो सम्मान 'राष्ट्रीय-ध्वज' का है। ज्यों ही, राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति, भारतीय मन में 'राष्ट्रीय-धवज' का सम्मान आ जाएगा, उसके समक्ष की सभी बाधाएँ स्वत: दूर हो जाएँगी। उसी श्रद्धा-भाव और विश्वास के साथ हमें विश्व-आंदोलन भी खड़ा करना है। आज मुझे यह कहने की इच्छा होती है कि, इस महान कार्य में हम सफल होंगे और अपने जीवन में ही हिंदी को विश्व की श्रेष्ठतम भाषा के स्थान पर प्रतिष्ठित देख कर ही अपने धरा-धाम के लिए विदा होंगे।

प्रस्तुत महाधिवेशन देश की दो महान् साहित्यिक विभूतियों- आचार्यवर्य श्री शिवपूजन सहाय एवं महापंडित राहुल सांकृत्यायन को समर्पित है। 'सम्मेलन-साहित्य' के इस अंक में उन दोनों ही स्तुत्य विभूतियों पर डिद्वानों के सुविस्तृत और सुदीर्घ लेख सम्मिलित किए गए हैं। अतएव उन पर इस आलेख में, कुछ विस्तार से लिखना किंचित उचित नही होगा। वैसे भी आचार्य शिवजी पर मैंने पूर्व में ही निवेदन कर दिया है। उतने भर से उनके व्यक्तित्व को आँका जा सकता है। राहुल जी मेरे अत्यंत प्रिय और आदर्श लेखक रहे हैं। उनकी पुस्तक 'बोलगा से गंगा' ने मुझे किशोर वय में हीं अभिभूत कर डाला था। वह पाठकों को मुग्ध कर देने वाला अद्‌भुत उपन्यास है। एक ऐसा उपन्यास, जिसमें मानव-सभ्यता के उद्‌भव से लेकर बीसवीं सदी की दुनिया का इतिहास भी अनुभव किया जा सकता है। एक उपन्यास में इतनी लम्बी कथा लिखी जा सकती है, यह राहुल जी की प्रतिभा और पांडित्य से ही संभव है। यह एक चमत्कार के समान है।

शिवजी और राहुल जी, दोनों ने ही, राष्ट्र और राष्ट्र-भाषा की अतुल्य सेवा की। दोनों स्वभाव से अलग-अलग थे। एक स्थिर और शांत भाव से एकांतिक-सेवा करने वाले अत्यंत सरल, विनम्र और उदार, तो दूसरे कभी न रुकने वाले, घुमक्कड़-यायावर। शिवजी एकांतिक साहित्य-साधना में लीन तो राहुल जी अविराम यात्रा में। एक अबूझ प्यास थी राहुल जी में। एक अद्‌भुत व्यग्रता थी 'अज्ञात' को 'ज्ञात' करने की। अपनी अंतर की यात्रा के लिए, वे निरंतर बाहर की यात्रा करते रहे। उनके भीतर एक बाबरा अन्वेषक था, जो उन्हें वन-वन भटकाता रहा। इसी यायावरी और अकूंठ जिज्ञासा ने उन्हें ज्ञान की विपुल-संपदा से परिपूरित किया। इसी ने उन्हें बहुत कुछ बनाया। 'हिंदू' से 'बौद्ध' भी और 'महापंडित' भी। उनकी अमर कृतियाँ सदा हिंदी-प्रेमियों का मार्ग-दर्शन करती रहेंगी और संकट के क्षणों में अवसाद-ग्रस्त मन को ऊर्जा प्रदान कर, पुरुषार्थ की प्रेरणा देती रहेंगी। बिहार प्रदेश को हीं नहीं, अपितु संपूर्ण भारत-वर्ष को, इन दोनों महान साहित्यिक विभूतियों पर गर्व है। मेरे लिए यह अत्यंत गौरव की बात है कि, जिस पद (बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष-पद) को आचार्य जी ने प्रतिष्ठा दी, उस महान आसन पर मुझ अकंचन को भी प्रभु ने प्रतिष्ठित कर

दिया। उनके प्रति श्रद्धा-तर्पण देते हुए, मैं इतनी ही प्रार्थना करना चाहूँगा कि, मुझे वे समस्त दिव्यात्माएँ शक्ति प्रदान करें कि मैं अपने विद्वान सहयोगियों और मार्ग-दर्शकों के साथ, उन शेष कार्यों को पूरा कर सकूँ, जिन उद्देश्यों के लिए, आज से 99वें वर्ष पूर्व, बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की गई थी।

अपने उन समस्त पूर्वजों के दिव्य-चरणों में श्रद्धा के पुष्प समर्पित कर, आप सभी समादृत विद्वानों, सरस्वती-पुत्रों और हिंदी प्रेमियों का हार्दिक अभिनंदन करता हूँ। आप सभी दिव्यात्माओं की उपस्थिति से हमारा यह महोत्सव और भी दिव्य हुआ है और हमें अशेष ऊर्जा मिली है। मेरा विश्वास है कि, इसी तरह पूर्व की भाँति आप सब इस गौरवमयी संस्था के प्रति सद्भाव बनाए रखेंगे। अपने मूल्यवान सुझावों से हमारा मार्ग-दर्शन करेंगे।

मैं, विदुषी साहित्यकार और गोवा की महामहिम राज्यपाल महीयसी डॉ. मृदुला सिन्हा जी का साधुभाव के साथ सविनय अभिनंदन करता हूँ, जिन्होंने सम्मेलन के प्रति सदैव अपना सद्भाव बनाए रखा है और हमारा आग्रह स्वीकार कर हमें कृतार्थ किया है। उनके कर-कमलों से आज न केवल इस 39वें महाधिवेशन का उद्घाटन ही हुआ है, बल्कि सम्मेलन का नव-निर्मित और विशाल मुख्य-द्वार का लोकार्पण भी हुआ है, जिसका ऐतिहासिक महत्त्व है। इनकी वाणी हमारे लिए अमृत रही है। इनके विद्वत्तापूर्ण और प्रेम-सिक्त व्याख्यानों से हम सदा लाभान्वित होते रहे हैं। इनकी कृपापूर्ण उपस्थिति से हमारा गौरव बढ़ा है। हम इस अधिवेशन के मुख्य अतिथि और मेघालय के महामहिम राज्यपाल श्रीयुत् गंगा प्रसाद जी का भी श्रद्धाभाव से अभिनंदन करते है, जिन्होंने हमें सदैव अपना माना है और जो हमें अपनी गरिमामयी उपस्थिति से प्रतिष्ठा देते रहे हैं। त्रिपुरा के पूर्व राज्यपाल और विद्वान् साहित्यकार प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद जी के प्रति भी हमारा नमन-भाव निवेदित है, जिनका प्रेम हमें वर्षों से प्राप्त होता आ रहा है और इस महाधिवेशन में भी उनके अत्यंत मूल्यवान समापन-व्याख्यान से हम लाभान्वित हो रहे हैं। गीत के शलाका-पुरुष और उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के पूर्व अध्यक्ष डा सोम ठाकुर, राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय मंचों के सम्मानित कवि डा. सुरेश अवस्थी (कानपुर), विदुषी कवयित्री डा. (श्रीमती) कमल मुसद्दी (कानपुर), डा. तारा सिंह (मुंबई), गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार की प्राध्यापिका डा. सुचित्रा मलिक, असम विश्वविद्यालय सिलचर के प्राध्यापक डा. सुरेश चंद्र, दिल्ली दूरदर्शन केंद्र की कार्यक्रम अधिशासी और विदुषी साहित्यकार अर्चना श्रीवास्तव और आकाशवाणी के दिल्ली केंद्र में वरिष्ठ कार्यक्रम-प्रबंधक श्री दिलीप कुमार झा के प्रति भी हम सादर अभिनंदन निवेदित करते हैं, जिन्होंने दूर की यात्रा कर इस अधिवेशन को सफल बनाने की कृपा की है।

अंत में मैं इस आयोजन के स्वागताध्यक्ष और हिंदीप्रेमी, पद्मश्री डा. सी.पी. ठाकुर, माननीय सांसद महोदय के प्रति विशेष आभार व्यक्त करना चाहता हूँ, जिनके मूल्यवान चेष्टाओं से यह महोत्सव गरिमापूर्ण रूप में संपन्न हो रहा है, तथा जिनकी सांसद-निधि से, सम्मेलन का मुख्य-द्वार उस भव्यता के साथ निर्मित हुआ है, जिसकी परिकल्पना आज से 8 दशक पूर्व, महान् कलाचार्य उपेन्द्र महारथी जी ने की थी, जो सम्मेलन भवन के परिकल्पक थे। सम्मेलन की कार्य-समिति और 39वें महाधिवेशन की स्वागत-समिति का भी अत्यंत आभारी हूँ, जिनकी प्राणप्रण से की गई अथक सेवा के बिना इस महोत्सव को सफल बनाना संभव नहीं हो सकता था। मैं उन सब मनीषी हिंदी-प्रेमियों के प्रति साधुभाव प्रकट करता हूँ, जिन्होंने अपने सामर्थ्य से बढ़कर, तन, मन और धन से, बिना किसी कामना और लालसा के बड़ा सहयोग किया है। हम बिहार के उन सभी पत्रकारों के भी आभारी है, जिन्होंने अपने प्रतिष्ठानों में, हमारे लिए, सदैव प्रेमपूर्ण स्थान बनाया और हमारा उत्साह-वर्द्धन किया है। पुनश्च और बारंबार इस महाधिवेशन के सभी अतिथियों, प्रतिनिधियों और अपनी गरिमामयी उपस्थिति से, इस महोत्सव को दिव्यता प्रदान करने वाले सभी विद्वानों का साधुभाव के साथ अभिनंदन करता हूँ।

- (डॉ.) अनिल सुलभ
अध्यक्ष
बिहार-हिन्दी-साहित्य सम्मेलन
पटना

❖●❖

राहुल सांकृत्यायन की जीवन-यात्रा

- डॉ. शशिशेखर तिवारी

राहुल जी का संपूर्ण जीवन, विरल उल्लास, अपूर्व साहस और सर्वाधिक प्रकृति और मानव-जीवन के बीच वर्षों तक निरुद्देश्य निरंतर विचरण करने के ऐतिहासिक संदर्भों से प्लावित है। यह वस्तुतः गुण और गणना के स्तरों पर मनुष्य की संवेदनशीलता और चिंतन-मनन परक अपार पुरुषार्थ की दुर्लभ जीवन-कथा है। लगभग पाँच दशकों तक अनवरत की जाने वाली यात्राओं की स्मृतियों में भी राहुल जी ने हिमालय के चतुर्दिक फैले हुए परिदृश्य और संस्कृति की चित्र-विचित्र छवियों का अद्‌भुत वर्णन किया है। इसी प्रसंग में नेपाल, तिब्बत, सिक्किम, चीन, जापान, सोवियत संघ, यूरोप आदि की यात्रा-कथाएँ उनकी विख्यात कृति **'मेरी जीवन-यात्रा'** के विविध खण्डों में सर्वत्र परिव्याप्त हैं। उनकी यायावरी के अन्तर्गत सर्वाधिक उनका प्रकृति-प्रेम और सदा घूमते रहने की उच्छल इच्छा दर्शित होती है। उनके यात्रा-वृत्तों के अतिरिक्त उनके कृतित्व भंडार में भी उनका यह स्वभाव सर्वत्र अंकित है। राहुल की 'बोल्गा से गंगा' शीर्षक कथा-कृति में जो कहानियाँ यात्रा-वृत्तांत के स्वरूप में पिरोई हुई हैं, उनमें से अधिकांश उनके जेल-जीवन में लिखित हैं। इस पुस्तक की कहानियों में इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन आदि के साथ-साथ प्रकृति और जन-जीवन संबंधी वर्णन सर्वत्र मिलते हैं। सभ्यता के विकास में मानव कबीलों की शताब्दियों तक की यात्रा का उल्लेख करते हुए राहुल जी ने वैदिक-काल से लेकर आधुनिक-काल तक के विकास का पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है। इस क्रम में उन्होंने सिंधु-घाटी में बिखरे हुए पुरा-अवशेषों के वृत्तांत का उल्लेख किया है। विश्व-संस्कृति का उनका तर्कपूर्ण जो चिन्तन-मनन है, उसमें भी मानव-जाति के संघर्ष और पारस्परिक लेन-देन के अनेक संदर्भ पाठक को चमत्कृत कर देते हैं। उपर्युक्त तथ्यों के प्रमाण स्वरूप इस कृति का शीर्षक 'बोल्गा से गंगा' विशेष रूप से राहुल के प्राचीन-इतिहास और प्रकृति प्रेम संबंधी आंतरिक लगाव को व्यक्त करता है। पर्वत, महानद, वन-उपवन आदि के आख्यानों से पूरित उनकी जीवन-यात्रा, प्रकृति और मनुष्य की जीवन-गाथा को उदाहृत करती है। स्वदेश और भारतेतर देशों की यात्राओं में तिब्बत की दुःसाहस पूर्ण उनकी घुमक्कड़ी उन्हें विश्व का महान् यायावर घोषित करती है। राहुल ने भारत के उत्तर में बसे पर्वतीय देश नेपाल होकर वर्षों तक जो यात्राएँ की हैं, वे उन्हें संसार के विरल यात्री के अद्वितीय और अपूर्व पद पर प्रतिष्ठित करती हैं।

राहुल जी के व्यक्तित्व और कृतित्व को दृष्टि में रखते हुए हिन्दी के सुप्रसिद्ध संस्मरणकार कुबेरनाथ राय ने उनके संबंध में जो विचार प्रकट किया है वह उक्त संदर्भ में उल्लेखनीय है, यथा, 'महापंडित राहुल सांकृत्यायन हिन्दी साहित्य के भगीरथ थे। उनके साहित्य का विस्तार बहु-आयामी है। शोध और रचनात्मक साहित्य, दोनों की दृष्टि से वे आधुनिक हिन्दी में अनुपम हैं। ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं में उन्होंने अपनी प्रतिभा का योगदान दिया है। ऐसा बहुमुखी साहित्य रचने वाला बहुश्रुत व्यक्ति हिन्दी में अब निकट भविष्य में शायद ही आये। ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि हिन्दी में ही नहीं, विश्व-स्तर पर साहित्य और संस्कृति आज उतार पर है, ज्वार खत्म हो गया लगता है, भाटा चालू है।'[1]

राहुल जी ने अपने आन्तरिक अथक यात्री के अनुभवों की संचय-संपदा से हिन्दी को लगभग एक सौ पचास कृतियाँ अर्पित की। इनके कृतित्व में यात्रा-साहित्य के अन्तर्गत जो रचनाएँ परिगण्य हैं उनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है। इस संबंध में राहुल जी द्वारा लिखित **'घुमक्कड़-शास्त्र'** सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। यात्रा में जिस प्रकार मार्ग के दोनों पार्श्व में चलचित्र की भाँति प्रकृति और मानवीय-जीवन की चित्र-विचित्र छवियाँ और निरंतर बदलते हुए परिवेश के पृष्ठ खुलते जाते हैं, उसी प्रकार, राहुल जी ने अपनी समस्त **'जीवन-यात्रा'** में अपने पग-चिह्नों को अंकित कर दिया है। यात्रा संबंधी संसार का प्रथम ग्रंथ 'घुमक्कड़ शास्त्र' के अन्तर्गत 164 पृष्ठों में राहुल जी ने यात्रा और यात्री के अभिन्न अंग-प्रत्यंग को उजागर कर दिया है। इसमें उन्होंने प्रसंगवश घुमक्कड़ी के आनन्द का उल्लेख करते हुए 'नवा जिन्दा बा जिन्दा' की कथा 'खुदाई का नतीजा' के इस शेर को उद्धृत करते हुए परोक्षतः अपनी संपूर्ण जिन्दगी के मर्म को उड़ेल दिया है, यथा,

सैर कर दुनिया के गाफिल, जिन्दगानी फिर कहां?
जिन्दगी गर कुछ रही, तो नौजवानी फिर कहां?

घुमक्कड़-शास्त्र, अथातो घुमक्कड़ जिज्ञासा, पृ. 11

इस पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि 'दुनिया में मनुष्य-जन्म एक बार ही होता है और जवानी भी केवल एक बार ही आती है। साहसी और मनस्वी तरुण-तरुणियों को इस अवसर से हाथ नहीं धोना चाहिए। कमर बाँध लो भावी घुमक्कड़ों! संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।'[2]

राहुल जी की जीवनी अपने-आपमें एक अविराम यात्रा की अमर कथा है। जीवन से मरण तक वे फक्कड़, संन्यासी, भिक्षुक, जिज्ञासु, अन्वेषक आदि के रूपों में यात्री बने रहे। यात्री की मानसिकता का उल्लेख करते हुए बुद्ध-वचन 'चरथ भिखवे बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय' के साथ संस्कृत की सूक्ति **'न गृह ग्रहमित्याहुः गृहणी ग्रहंमुच्यते'** को राहुल जी ने चरितार्थ किया है। उन्होंने क्रमशः केदार पाण्डेय से रामउदार दास और दामोदर सांकृत्यायन से राहुल सांकृत्यायन तक की अपनी अभिधान यात्रा को उजागर किया। इतना ही नहीं अपनी आस्था, रुचि और अध्ययन के क्षेत्र में भी **'क्षेत्रे भोजन मठे निद्रा'** से लेकर आर्य समाजी, बौद्ध, साम्यवादी आदि केचुलों को उतार कर दार्जीलिंग के एक टीले पर बसे घर की सहधर्मिणी के साथ स्मृति शक्ति को भी त्यागते हुए महा प्रस्थान पर वे निकल पड़े।

अपनी कृतियों के अनेक स्थलों पर राहुल जी ने यात्रा के प्रयोजन पर प्रकाश डालते हुए दार्शनिक संदर्भों में उसे प्रयोजनातीत सिद्ध किया है। उनकी दृष्टि में यात्रा अपने-आपमें सृष्टि प्रक्रिया की भाँति अविरल और चिरंतन है। **'एसिया के दुर्गम भूखंडों में'** शीर्षक एक अन्य कृति की भूमिका अन्तर्गत उन्होंने लिखा है कि 'मुझे घुमक्कड़ी में स्वतः एक प्रकार का आनन्द आया था- 'आनन्द आता है' भी कह सकता हूँ, यद्यपि शरीर उसके लिए पहले की तरह सहायक नहीं है। मैंने प्रायः 'स्वान्तः सुखाय' यात्राएँ की थीं, पर उससे दूसरों के हृदयों को भी सुख मिल सकता है, और किन्हीं-किन्हीं यात्राओं का उद्देश्य 'स्वान्तः सुखाय' से भी कुछ अधिक था। मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि तरुण पीढ़ी अपने देश के महान् घुमक्कड़ों की परम्परा को उच्छिन्न होने देना नहीं चाहती। .....अब हमारे घुमक्कड़, यात्रा लिखने के महत्त्व को समझने लगे हैं। लेकिन, जिस वक्त मैंने 1919-1920 ई. में पहले-पहल पैरों के साथ लेखनी को भी उठाया, उस समय हिन्दी में बहुत कम ही यात्राएँ लिखी गयी थीं। यात्रा ने ही मेरे हाथ में जबर्दस्ती कलम पकड़ा दी और स्वयं ही लेखन-शैली बनती गई। कलम के दरवाजे को खोलने का काम मेरे लिए यात्राओं ने ही किया, इसलिए मैं इनका बहुत कृतज्ञ हूँ।'[3]

राहुल जी **'यात्रा के लिए यात्रा'** को ही संदेश मानकर आजीवन घूमते रहे। लेकिन एक संवेदनशील और भारतीय चिंता-धारा के महापंडित के रूप में उन्होंने एशिया एवं यूरोप के देशों की यात्राएँ की। मनुष्य का मनोविज्ञान यह बतलाता है कि आदमी अन्य प्राणियों की अपेक्षा कई संदर्भों में इसलिए श्रेष्ठतर है कि उसके चित्त में जीवन-जगत् को जानने की इच्छा का उद्वेलन होता है। वह जिस वस्तु या विचार को जान लेता है, उसकी स्मृतियों को अपने मन-प्राणों में सँजो लेता है और पुनः अज्ञात की खोज में यात्रा के पथ पर अग्रसर हो जाता है। इस क्रम में शिवप्रसाद सिंह द्वारा लिखित **'किस-किस को नमन करूँ'** शीर्षक संस्मरण **'बीहड़ पथ के महायात्रिक : राहुल'** के ये अंश उद्धरणीय हैं- **'जब-जब मैंने राहुल जी के बारे में सोचा है, मेरी आँखों के सामने गाँव के छप्परों पर खड़ा बूढ़ा पीपल खड़ा हो गया है- सैकड़ों गर्मी-बरसातें झेले हुए, फिर भी उदग्र कण्ठ और उन्नत वक्ष का बूढ़ा पीपल! अनगिनत पंछी जिसकी सघन पत्तियों की छाया में नीड़ बसाए विश्राम लेते हैं। अनेक दिशा-देशान्तरों से आते हुए, आते-जाते हुए पक्षी आकाश में इन्द्रधनुषी बितान बनाते जिसके शीश पर निरंतर मँडराया करते हैं। गर्मी तपती है, तो जड़ से सटकर चौगिर्द गाय-बैल, भैंस-पड़वे, खड़े-बैठे, अधलेटे जुगाली करते रहते हैं और जिसकी आश्वस्तकारी छाया में प्रकृति के उत्पातों से परेशान कृषक निरंतर शरण ढूँढ़ते रहते हैं।** .....सामने खड़े थे राहुल, सहज उन्मुक्त स्वप्नदर्शी जीवन के हिमायती राहुल, जिनकी आँखों में बौद्धकालीन गणराज्य और बाईसवीं सदी की रंगीन ग्राम्य संस्कृति को साकार करने के लिए आतुर-आकुल आकांक्षा का प्रकाश था और जिनके शरीर में आखेट-प्रिय आर्यों की निर्भीकता और सह नृत्य से थककर चूर युवकों की मस्ती का बोध था।[4]

वस्तुतः राहुल जी की यात्रा के पन्नों के अन्तर्गत दुर्गम भूखंडों में वर्षों तक विश्व की परिक्रमा करते हुए जो अनुभव संचित हैं वे भारत ही नहीं विश्व के यात्रा-साहित्य में अनुपम हैं। राहुल जी ने 'यात्रा के पन्ने' में यात्रावृत्त के जिन प्रमुख पड़ावों का वर्णन किया है उनमें तिब्बत का अपना विशेष स्थान है। हिमालय का यह प्रदेश दुर्गम और निरंतर उत्तुंग होती हुई पर्वतीय पगडंडियों का वह भाग है

जिसमें ब्रह्मपुत्र, सिंधु, सतलज आदि नद-नदियों को सींचने वाली झील मानसरोवर स्थित है। इसी क्षेत्र में मंगोल प्रजाति से संबंध रखने वाले भोट-भोटियों का निवास है। अपने उक्त ग्रंथ के 'दो शब्द' में राहुल जी ने तिब्बत यात्रा के प्रिय दिवसों को याद करते हुए लिखा है **'मेरी चारों तिब्बत-यात्राओं** (1929, 1934, 1936, 1938 ई.) को आज तेरह वर्ष हो चुके हैं, लेकिन तिब्बत ने जैसे अपने भीतर शताब्दियों को ताजा बनाए रखा, उसी तरह से इतिहास की दृष्टि से वह अब भी अचल सिद्ध होता, किन्तु अब वहाँ शताब्दियों का परिवर्तन वर्षों में होने लगा है। भारत और तिब्बत की जिन सांस्कृतिक अनमोल निधियों को मैं वहाँ के मठों में देख आया था, अब उनके गुणग्राहक वहाँ पैदा हो गए हैं....।'[5] राहुल जी की तिब्बत यात्रा भारतीय संस्कृति के महान् योगदान संबंधी उज्ज्वल साक्ष्यों की दृष्टि से भी अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। इसलिए कि इसी यात्रा में उन्होंने अपार साहस और संघर्ष करते हुए उन ग्रंथों की खोज की जो भारत के पंडितों की विख्यात रचनाओं के तिब्बती अनुवाद थे।

इस उपर्युक्त सत्य के साक्ष्य हेतु तिब्बत यात्रा के क्रम में राहुल जी द्वारा अर्जित अनमोल ऐतिहासिक और दार्शनिक प्राचीन पोथी पर प्रकाश डालने वाले ये अंश द्रष्टव्य हैं, यथा, 'पुस्तकों की सूची मिलाने पर मालूम हुआ, कि 1934 में जितनी ताल पोथियाँ हमने देखी थीं, उनमें से दो- 'सद्धर्म-पुण्डरीक' और 'काशिका-पंजिका' अब नहीं थी। यदि दो साल में दो पुस्तकें गुम हो सकती थी, तो कई शताब्दियों से यहाँ रखी हुई इन पुस्तकों में से न जाने कितनी गुम हुई होंगी। मुझे यह भी याद है कि पहली तिब्बत-यात्रा में मुझे यहाँ से सात-आठ सौ बरस पुरानी एक तालपत्र की पोथी मिली थी, जिसे पढ़ने पर मालूम हुआ, कि अनुवादित 'वज्रडाक तंत्र' है। पुस्तक को मैंने पटना-म्यूजियम में रख दिया। यह तो निश्चय ही था, कि अगर दस-पाँच हजार खर्च करने के लिए कोई तैयार होता, तो मेरी देखी हुई पुस्तकों में से आधी उसे आसानी से मिल सकती थी। इस प्रकार तिब्बत में होने से वह सुरक्षित हैं, यह नहीं कहा जा सकता।'[6]

इसी उपर्युक्त क्रम में राहुल जी का दूसरा यात्रा-संस्मरण **'एसिया के दुर्गम भूखंडों में'** अन्तर्गत वर्णित संदर्भ भी अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। राहुल जी ने अपनी यात्रा का वर्णन करते हुए 'एशिया के दुर्गम भूखंडों' के स्वरूप और उसमें की जाने वाली अपनी यात्राओं के अनुभवों को व्यक्त किया है, यथा, (क) 'खोक्-सर से कुल्लू 53 मील है। पहली अक्टूबर को तैयारी करते हुए ख्याल आया कि मनाली से मोटर द्वारा आज ही कुल्लू चल देना चाहिए। खच्चर वालों के साथ तीन दिन बर्बाद करने का क्या प्रयोजन? तो भी मैं पूरे निश्चय पर नहीं पहुँचा था। साथियों को अपनी चाल से तैयारी करते देखकर घोड़े को कसवाकर 7 बजे मैं चल पड़ा। थोड़ी-सी चढ़ाई तो मामूली थी, फिर खूब कड़वी चढ़ाई शुरू हुई, यद्यपि वह खड़ी न थी। तीन मील चलने के बाद कुछ समान मार्ग आया। व्यास-कुण्ड मिला। लोगों ने कहा- व्यास ऋषि का स्थान व्यास-कुण्ड आ गया। यहीं से व्यास नदी निकली है। मैंने कहा- भाई, यह तो सोलहों आने जालसाजी है! व्यास नदी का असली नाम तो विपाट् है। उससे व्यास का क्या संबंध? एक छोटे से ग्लैशियर (हिमानी) से पानी की पतली धार आती है।'[7]

(ख) 'मैत्रेय की बाईं ओर एक विचित्र-सी भारतीय लामा की मूर्ति देखी। पूछने पर मालूम हुआ, यह सिद्ध फ्-दम्-पा-सङ्-स्-गेयेस् (सत्पिता बुद्ध, मृत्यु 1118 ई.) हैं। बहुत जीर्ण-शीर्ण मूर्ति है। सामने नीचे कुछ और भी छोटी-बड़ी पीतल की मूर्तियाँ हैं, जिनमें अधिकांश भारत से लाई गयी हैं- यह उनकी नाक, नीची भौंह, कम चौड़ा मुँह, सुंदर छाती और कमर बतला रही है। ढूँढ़ने पर भी उन पर अक्षर नहीं मिले। एक ओर बहुत-सी पुरानी, भोट-अक्षर में लिखी हुई पुस्तकें बे-परवाही से रखी हुई है। पीछे के बने देवालयों तथा पुराने स्तूपों को देखकर हम लौट आए। धर्मवर्द्धन ने बीजक से खास-खास बातों का नोट लेना शुरू किया। नाती-ला ने फोटो लिये।'[8]

(ग) 'फिर्दौसी की कब्र के चारों ओर एक अच्छा बाग लगा हुआ है। उसी के भीतर एक पुस्तकालय भी है। पास में छोटा-सा गाँव है, जिसके बागीचे फिर्दौसी के बाग तक चले गए हैं। दोपहर की धूप, हम थोड़ा विश्राम करने के लिए पास के बाग में चले गए। बाग वाले ने झट से एक सुन्दर कालीन बिछा दी और चाय बनाने का आग्रह करने लगा। उस दोपहर बिना दूध की चाय पीने की अपेक्षा ईरानी मीठे खरबूजे कहीं अच्छे थे; लेकिन उन लोगों के सामने मीठे खरबूजे (सर्दे) की क्या कदर? उनके लिए तो चीज जितनी महंगी हो उतना ही अच्छी। दो-तीन हरे खरबूजे आए। इनकी उपरली हरियाली जहाँ-जहाँ सफेद पपड़ी पड़ी हुई थी, लेकिन काटने पर भीतर बिल्कुल हरा था। मिठास के बारे में क्या कहना! खरबूजा खाकर थोड़ा विश्राम किया। दो बजे मशहद के लिए लौट पड़े।'[9]

(घ) 'चार-दि-गुर्बन एक बड़ा गाँव है। सड़क के किनारे पचीसों दुकानें हैं। हमें एक होटल में जगह मिली। एक लम्बा-चौड़ा कमरा मिला; जिसमें मकान गर्म करने के लिए मुँह-बंद अंगीठी जल रही थी। अंगीठी के ऊपरी भाग में रखा पानी चाय के लिए खौल रहा था। हमारे पहुँचते ही किटसन लैम्प जला दिया गया। कालीन बिछा दिया गया। जरीफ खान ने पूछा- अंगूर खाएंगे? मेरे हाँ कहने पर मिट्टी की गोल छोटी डेहरी (कोठिली) सामने लोकर रखी गयी। कोठिली के मुँह का पिहान मिट्टी से ही चिपकाया हुआ था। मिट्टी तोड़कर पिहान को अलग कर दिया गया; और भीतर दो सेर पक्के सफेद मीठे अंगूर रखे हुए थे। जरीफ खान ने गुच्छा ऊपर उठा हमारी ओर बढ़ाते हुए कहा- अंगूर अच्छे हैं, सड़े और सूखे नहीं हैं। पूछने से मालूम हुआ कि अंगूरों को वैसे तो रखने पर सूख जाते हैं, रूई डालकर पिटारी में रखने पर खर्च ज्यादा पड़ जाते हैं, इसलिए यहाँ के लोगों ने इन सूखी मि्टी की कोठिलियों में रखने का ढंग निकाला।'[10]

राहुल जी ने 'एशिया के दुर्गम भूखंडों में' यात्रा करते हुए जो संस्मरण लिखे हैं वे साहित्य ही नहीं विश्व इतिहास की दुर्लभ स्मृतियाँ सिद्ध होते हैं। इसलिए कि इनमें ऐसे भी प्रसंग हैं जो इतिहासकारों द्वारा प्राय: विस्मृत कर दिये गये हैं।

राहुल जी की जीवन-वृत्तांत संबंधी कृतियों में उनकी 'मेरी जीवन-यात्रा' (पांच भाग) का सर्वाधिक ऐतिहासिक महत्त्व है। रचना के पाँच भागों में राहुल जी ने सोलह सौ अठारह मुद्रित पृष्ठों के अन्तर्गत अपनी जीवन-यात्रा के क्रम में संचित जानकारियों को मुख्यत: आधार बनाकर प्रस्तुत किया है। इनमें राहुल जी का सम्पूर्ण जीवन और कृतित्व अपने सम्पूर्ण विस्तार और अपूर्व उपलब्धियों से सम्पूरित होकर अपने-आपमें एक विश्व-कोष के प्रतिरूप में व्यक्त हुआ है। इन्हें पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि ये चारों खण्ड किसी एक कालावधि और किसी एक मनुष्य के द्वारा लिखित नहीं हैं। महर्षि व्यास देव के 'महाभारत' की तरह इसकी विषय वस्तुपरक व्यापकता और विविधता वर्तमान काल की मनस्विता के लिए एक साथ आदर्श और चुनौती सिद्ध होती है।

'मेरी जीवन-यात्रा-1' में संस्मरणकार ने 1883 ई. से लेकर 1927 ई. तक की अपनी जीवन-कथा को प्रस्तुत किया है। राहुल जी की इस जीवनी में केवल वे ही नहीं, बल्कि जीवन की विभिन्न परिस्थितियाँ और देश-विदेश के विस्तृत परिदृश्य मूर्तित हो उठे हैं। इनको संक्षेप में प्रस्तुत करना पूरी तरह असंभव है। इसलिए इसमें वर्णित कुछ अंशों को उदाहरणार्थ नीचे दिया जा रहा है, यथा,

(क) 'उन्हीं पुरानी स्मृतियों में है- एक दिन मैं माँ के साथ ननिहाल से अनैला आ रहा था। चलते वक्त आसमान ठीक था, किन्तु रास्ते में पानी बरसने लगा। मैं किसी की गोद में था। मेरे हाथ में गुड़ में राँधे सत्तू की पिंडी थी। पानी से पिंडी भीग गयी थी, किन्तु उस पिंडी को बड़े यत्न से मैंने हाथ में दबा रखा था। हमारे परिवार जैसी स्थिति की बहुएँ एक या दो बार ही पालकी पर पीहर-नैहर जाती-आती हैं, बाद में वह लाल चादर ओढ़े घूँघट किये पैदल ही आती-जाती हैं। मेरी माँ वैसी ही लाल चादर ओढ़े 10 मील का रास्ता तय कर रही थीं। वर्षा शायद सारे रास्ते भर नहीं रही।'[11]

(ख) 'दूसरे दिन सबेरे, चचा मुँह धोने या किसी से बात करने में लगे थे, मैं चुपके से निकला। मठ के दरवाजे से बाहर वह पत्थर का शेर था, जिसके लिए पिछले सालों हिन्दू-मुसलमानों का झगड़ा होने लगा था; और अब वह कठघरे के अन्दर चबूतरे पर रखा है। उस वक्त उस शेर को कोई नहीं पूछता था, रास्ते की बगल में आधा धरती में दबा और आधा ऊपर पड़ा हुआ था। वहाँ से होते सड़क पर आया, फिर सीधे चौक। रास्ते में कई जगह मुड़ना था, किन्तु मालूम होता है, वह सारे मुड़ाव मेरे दिमाग पर नक्श थे।'[12]

(ग) 'सैर कर दुनिया की गाफिल' का मंत्र चैन नहीं लेने दे रहा था। पहिली उड़ान के लिए घी का गिरना और नाना की डांट का डर भी कारण था, किन्तु अब की बार के लिए उसकी आवश्यकता न थी।

रास्ते के लिए पैसे की जरूरत होती है, यह तो मैं शैशव से जानताथा, जबकि सुना था कि नाना अपने पिता के रखे सौ रुपयों को लेकर सुदूर दक्षिण-हैदराबाद की ओर चम्पत हुए थे। मुझे अब की बार एक या दो रुपये तथा रुपयों की मालावाला जेवर हाथ लगा। माला को तो प्रश्नोत्तर के डर से मैं नहीं बेच सका, और आठ महीने बाद उसे वैसा ही लौटा लाया, लेकिन रुपयों ने कलकत्ता पहुँचने में मदद दी।[13]

(घ) 'इस प्रकार कभी लद्दाख, कभी मानसरोवर, कभी ब्रह्मपुत्र की उपत्यका में टशील्हुन्पो, कभी ल्हासा और कभी खम् (चीन के पास पूर्वीय तिब्बत का प्रान्त) हमारे पैरों के नीचे रहता। फिर सोचा, मानसरोवर और तिब्बत के डाकुओं से हम दोनों बच

कैसे निकलते? और जीवन की और भी तो बहुत-सी लालसाएँ हैं, जवानी भी चिरस्थायी नहीं हैं; यह तो तब हो सकता था, जबकि जीवन हजार वर्ष का होता, जिसमें जवानी के नकद पाँच सौ साल होते।[14]

इस प्रथम-खण्ड के विस्तार को डॉ. नामवर सिंह जी ने अत्यंत उपयुक्त नाम देते हुए इसे केदार से राहुल की संज्ञा दी है। ऐसा इसलिए कि यह खण्ड विशेष रूप से राहुल सांकृत्यायन के निर्माण की जन्म-भूमि ही नहीं धात्री भी है।

'मेरी जीवन-यात्रा-2' के अन्तर्गत लेखक ने लंका, नेपाल, यूरोप, सोवियत-भूमि, कोरिया, ईरान आदि के साथ तिब्बत की यात्राओं की यादों को संचित किया है। ये सभी अपने गुण और गणना में इतने विस्तृत हैं कि इन्हें कुछ पन्नों में प्रस्तुत करना अत्यंत दुरूह कार्य है। इसलिए यात्रा-वृत्तांत की विधात्मक रचना की दृष्टि से मूल्यवान माने जा सकने वाले इसके कुछ अंश नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं, यथा,

(क) 'अनुराधपुर-लंका की पुरानी राजधानी है। यहीं से लंका का इतिहास शुरू होता है और बौद्ध धर्म का भी। प्रथम बौद्ध धर्म-प्रचारक अशोक-पुत्र ने ईसा पूर्व तीसरी सदी में यहीं धर्म ध्वजा गाड़ी थी। तब से आज तक बौद्ध धर्म ही इस द्वीप का प्रधान धर्म बना है। अनुराधपुर आज न राजधानी है और न उसे छोटा नगर ही कह सकते हैं। .....अशोक-पुत्री भिक्षुणी संघमित्रा बोधगया के पीपल-वृक्ष की एक शाखा लेकर यहाँ आयी थी, यही वह ऐतिहासिक वृक्ष है-....।'[15]

(ख) '21 को 5 बजे सबेरे हमने पहिले-पहिल यूरोप के भूखंड को देखा। दाहिनी तरफ इतली के छोटे-छोटे पर्वत थे, जिन पर सब जगह गाँव बसे दिखाई पड़ते थे। पहाड़ों की रीढ़ों पर भी बगीचे लगे हुए थे। मसीना नगर दूर से देखने में पाँती से लगाए छोटे-छोटे घरौंदों-सा मालूम होताथा; उसकी सीधी सड़कें पतली रेखा-सी मालूम होती थीं, बायीं तरफ एक पर्वत को दिखलाकर हमारे एक सहयात्री ने बतलाया, कि यही सिसिली का एटना ज्वालामुखी है। कुछ ही साल पहिले वह जगा था और अपने मुँह से धुआँ और अंगारे उगल रहा था। सिसिली द्वीप के गाँव और नगर भी इतली- जैसे मालूम होते हैं।'[16]

(ग) 'जर्मनी के शिक्षित मध्यम-वर्ग में बुद्ध के प्रति अनुराग रखने वाले आदमियों की बहुत काफी तादाद थी। संस्कृत और पाली भाषाओं के बड़े-बड़े विद्वान जर्मनी में पैदा हुए। उन्होंने हजारों ग्रंथों का सम्पादन और अनुवाद किया। उन्हें मालूम हुआ कि एक ऐसा भी व्यक्ति संसार में पैदा हुआ था, जिसके जीवन में ईसा से भी ज्यादा स्नेह, माधुर्य और सादगी थी, जिसकी प्रतिभा कितनी ही बातों में ढाई हजार बरस बाद आज भी बिल्कुल ताजी है। ऐसे व्यक्ति के प्रति निम्न-मध्यम-वर्ग के शिक्षितों का आकृष्ट होना स्वाभाविक है।'[17]

(घ) 'उस दिन हम नदी-पार के विहार का दर्शन कर आये थे, अब हमें पहाड़ के पचासों मंदिरों को देखना था। हमारे ठहरने के स्थान के पास ही पुराने महंतराजों के स्तूप थे। इनके भीतर उनके शव रखे हैं। शवों के साथ मृत व्यक्ति की बहुमूल्य वस्तुएँ और पुस्तकों के रखने का रिवाज है। इन स्तूपों में न जाने कितनी तालपत्र की पोथियाँ होंगी; लेकिन, उनका दर्शन तभी हो सकता है, जब तिब्बत 15वीं से 21वीं सदी में आये। गोरिम् ल्हखङ् एक पुस्तकागार है। शाक्य श्रीभद्र इसी में ठहरे थे।'[18]

'मेरी जीवन-यात्रा, संयुक्त संस्करण, भाग 3/4', में विशेषत: ईरान, रूस आदि देशों के परिभ्रमण से लौट कर पुन: स्वदेश आने के वृत्तांत संकलित हैं। इसकी दुर्लभ ऐतिहासिक सामग्री के कुछेक अंश निम्नांकित हैं, यथा,

(क) '1944 के अक्तूबर के अन्त में किसी तरह पासपोर्ट पाकर मैं रूस के लिए रवाना हुआ। स्थल-मार्ग ही सस्ता तथा उस वक्त निरापद था, इसलिए मैंने ईरान की ओर पैर बढ़ाया। वैसे मेरी कोई यात्रा पैसे के बल पर कभी नहीं हुई, किन्तु उनमें यह सुभीता अवश्य था, कि 'तेते पाँव पसारिए, जेती लंबी सौर' की नीति का पालन कर सकता था। ....आदतीत के तरद्दुदों को जल्दी भूल जाता है, किन्तु ईरान की बस और लारी की यात्रा तो पूरी तपस्या है- शोफर (ड्राइवर) मुसाफिर की जान-माल के बादशाह हैं, जब मर्जी हुई चल पड़े, जब मर्जी हुई खड़े हो गए। रजाशही कड़ाई हट गयी थी, इसलिए फिर सड़कों पर बुर्का (पर्दा) आम दिखाई देता था, कितनी ही पगड़ियाँ भी दिखलाई पड़ती थीं, यद्यपि हैट बिल्कुल उठ नहीं गयी थी।'[19]

(ख) 'दाइउल-इस्लाम की ज्येष्ठ कन्या जाहिरा ने एक दिन उस्मानिया विश्वविद्यालय के एम.ए. के अपने निबंध को सुनाया। मुलन्टों या पुराने पंडितों जैसी खोज थी- अशोक एकेश्वरवादी था। वह ईरान के अखामनी (दारा) खानदान में पैदा हुआ था। उसने परसेपोलिस के कारीगरों को बुलाकर भारतवर्ष में इमारतें बनवाई थीं। अशोक का दादा चन्द्रगुप्त ईरान के नगर मूरू से भागकर आया

था, जो कि (तख्तेजम्शीद) का ही दूसरा नाम था। अशोक बौद्ध नहीं था। अजन्ता की गुफायें बौद्ध विहार नहीं थे, बल्कि पुलकेशी और दूसरे दक्खिनी राजाओं की चित्रशालायें हैं, जिनमें उनकी वास्तविक जीवनी और इतिहास लिखा हुआ है।'[20]

(ग) 'लेकिन स्तालिनग्राद की अजेय भूमि पर पैर रख के यह कैसे हो सकता था, कि मैं कल्पना-जगत में न चला जाऊँ। सोवियत भूमि एक ऐसी भूमि है, जिसके बारे में दुनिया में दो ही पक्ष हैं- या तो उसके समर्थक या प्रशंसक होवें, या उसके कट्टर शत्रु। मध्य का रास्ता कोई अत्यंत मूढ़ ही पकड़ सकता है। मैं सदा सोवियत का प्रशंसक रहा हूँ, बल्कि कह सकता हूँ, कि जिस वक्त घोर निद्रा के बाद अभी मुझे जरा ही जरा अपनी राजनैतिक आँख खोलने का अवसर मिला, उसी समय मुझे विरोधियों के घनघोर प्रचार के भीतर से रूसी क्रान्ति की खबरें सुनाई पड़ीं, जिन्होंने मेरे दिल में नये प्रकाश को देकर इस भूमि के प्रति इतना आकर्षण पैदा कर दिया....। ....पाँच बजे के बाद अब हम ऐसी भूमि में आए, जहाँ देवदार के जंगल दिखाई पड़ते थे। मालूम होता था, धान के हरे-हरे खेत हैं। काकेशश की बड़ी-बड़ी पहाड़ियाँ गाँवों के घर अब लम्ब राजपथ के किनारे पाँती से बसे दिखाई पड़ रहे थे। राजपथ काफी चौड़े भी होंगे, किन्तु हमें ऊपर से सरल रेखा जैसे मालूम होते थे। बड़े-बड़े जलाशय छोटे-छोटे डवरों- जैसे दीख पड़ रहे थे। हाल ही में जुते और फसलवाले खेत रंग से साफ मालूम होते थे। नदियाँ सर्पाकार दीख पड़ रही थीं। नीचे रेल की चलती ट्रेन मालूम होती थी, कोई बड़ा साँप जा रहा है। एक जगह कुछ देर तक बादल में चलना पड़ा।'[21]

(घ) 'अपने सात महीने की तपस्या के बाद लेनिनदग्राद में पहुँचकर पुराने मित्रों कलियानोफ, विस्क्रोव्नी, सुलेकिन आदि से मिलकर खुशी होनी ही चाहिए थी, किन्तु इस बात का खेद होता था, कि अकदमिक श्चेर्वात्स्की का वह प्रसन्न मुख और वह गंभीर संलाप अब प्राप्त नहीं होगा। अपनी सोवियत भूमि की द्वितीय यात्रा मैंने उन्हीं के निमंत्रण पर की थी। उस समय मैं कुछ ही महीने रह सका था, लेकिन उतने ही में हमारी घनिष्ठता इतनी बढ़ गयी थी, कि मालूम होता था, हम युगों से एक दूसरे के साथ अत्यंत घनिष्ठ संबंध रखते आये थे। मेरे भारत लौटने के बाद भी उसका बार-बार आग्रह था, कि मैं अब दीर्घकाल के लिए लेनिनग्राद आऊँ।'[22]

(ङ) '11 नवम्बर को हमें बरान्निकोफ के घर जाना था, आज वहाँ अगली छमाही का प्रोग्राम बनाना था। कल तक बादल, बूँदों और कीचड़ से लोग परेशान थे, रात को बरफ पड़ गयी थी, जिससे जमीन डेढ़-दो इंच ढँक ही नहीं गयी थी, बल्कि कीचड़ से भी जान छूट गयी थी। बरान्निकोफ उन अकदमिकों में से हैं, जो सोवियत के सबसे अधिक सम्मानित, संभ्रांत ओर धनी व्यक्ति हैं। ... बरान्निकोफ खाने-खिलाने के बारे में बड़े ही उदार थे। जब भी अध्यापकों और छात्रों की बैठक उनके घर पर होती- और वह अक्सर होती रहती- तो खान-पान की अच्छी तैयारी होती थी। वह अपने पुराने मकान में ही थे, इसलिए लेनिनग्राद के मकानों की किल्लत का सामना उन्हें नहीं करना पड़ा। उनके पास चार-पाँच बहुत अच्छे-अच्छे कमरे थे...।'[23]

(च) '19 सितंबर को म्यूजियम देखने गए। म्यूजियम के साथ मेरा वर्षों से संबंध रहा है, तिब्बत से लाई अपनी चीजें मैंने इसी को प्रदान की हैं। तिब्बत की चौथी और अंतिम यात्रा में मैं बहुत-सी संस्कृत की ताल-पोथियों का फोटो उतरवाकर लाया था, जिनके प्रकाशित करने का कोई प्रबंध नहीं हुआ था। यह जानकर संतोष हुआ कि फोटो खराब नहीं हुए हैं। ज्ञानश्री के ग्रंथ बड़ा महत्त्व रखते हैं, उनका किसी भाषा में अनुवाद नहीं हुआ।'[24]

(छ) '8 अक्तूबर को कोंच के प्राचीन इतिहास की ओर मेरा ध्यान गया। कोंच, जैसे हमारे देश में सैकड़ों नगर हैं, जो अपने समय में काफी महत्त्व रखते थे, लेकिन इनके इतिहास का कोई उल्लेख नहीं मिलता। कोंच का नाम ही बतला रहाथा, कि मुस्लिम काल का नहीं है। संस्कृत में शायद यह क्रोंच नगर रहा हो, पर क्रोंच पक्षी के नाम पर किसी नगर के होने का पता नहीं लगता। पूछने पर बारह खम्बा स्थान का पता लगा। 8 अक्तूबर को एक काफी जमात मेरे साथ वहाँ पहुँची। बारहखम्बा के पास बड़ी माता का मंदिर है, जिसमें गुप्तकालीन या तुरन्त बाद की छठी या सातवीं सदी की पाषाण मूर्तियाँ हैं। सुन्दर छाती और भुजमूल गुप्त और पश्चात् गुप्तकाल की मूर्तिकला की विशेषता है।'[25]

(ज) 'लिखने का अभ्यास धीरे-धीरे छूट गया, अब खोलकर लिखने में बहुत सुभीता मालूम होता था। नागार्जुन लिपिक का काम करते, मुझे यह बहुत बुरा मालूम होता था। मैं और अधिक समय तक उनके श्रम और समय को बर्बाद करने के लिए तैयार नहीं था। साथ ही मुझे किसी लिपिक की जरूरत थी। श्री सत्यनारायण 1944 में इस काम को बड़ी अच्छी तरह कर चुके थे, लेकिन मालूम

नहीं इस समय वह खाली थे या नहीं, ऊपर से उनकी छुआछूत के ख्याल से यात्रा करने में कठिनाई थी। साहित्य-सम्मेलन के सभापति होने से मुझे इस साल के काफी भाग को यात्रा में बिताना था।'[26]

(झ) '8 दिसम्बर को सबेरे गढ़मुक्तेश्वरवाली सड़क के ऊपर टहलने निकले। सड़क पर कण्डे बेचने वाले शहर की ओर जा रहे थे। उनकी बातचीत मैं गौर से सुनने लगा। हिन्दी आखिर इन्हीं की भाषा है। जमुना के दोनों तरफ फैले कुरु और कुरुजांगल देश की वह जनभाषा है, इसलिए कौरवी भाषा की जिज्ञासा उठनी स्वाभाविक थी। कितने ही समय से मैं सोचता था, प्रेमचंद को कुरु देश में पैदा होना चाहिए था, ताकि वह अपनी अनमोल कृतियों द्वारा बोल-चाल की हिन्दी कैसी होती है, इसके नमूने पेश करते। उपलेवाले एक दूसरे से बात कर रहे थे। मैंने पूछा- 'घर से उपले ला रहे हो?' जवाब मिला- 'नहीं जी, मोल के लाते हैं।'[27]

(ञ) '15 फरवरी को पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी के लखनऊ से डॉक्टर उपाधि पाने के उपलक्ष्य में सभा हुई। शांतिनिकेतन की इस सभा से मैं बहुत प्रभावित हुआ। उसे न आधुनिक कहना चाहिए, और न प्राचीन, अथवा वह दोनों की कितनी ही बेकार की रूढ़ियों से मुक्त थी। एक कलापूर्ण ढंग से सुंदर चौक पूरा गया था, जिस पर आम्रमंजरी के साथ मिट्टी का सुन्दर कलश रखा गया था। उससे जरा-सा हटकर एक पतला लम्बा-सा तख्त पड़ा था, जिसके ऊपर पुरोधा (सभापति) और दो-एक और व्यक्ति बैठे थे। सभा का आरंभ और समाप्ति शंखनाद से हुई। आचार्य क्षिति सेन पुरोधा थे।'[28]

'मेरी जीवन-यात्रा' का यह अंतिम पांचवाँ भाग राहुल जी के देहावसान के बाद उनकी श्रीमती कमला जी के द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसमें उन्होंने अनेक स्थलों पर अपने जीवन के पुरुषार्थ और मन के गहरे भावों को व्यक्त किया है। विशेष रूप से यह भाग अन्य विषयों के अतिरिक्त राहुल जी के जीवन की संध्या में उनकी कर्म भूमि, छपरा संबंधी स्मृतियों में भींगा हुआ है। साथ ही इसके अन्तर्गत उन्होंने अपनी विख्यात कृति 'दोहाकोश' के महान् सिद्ध कवि सरहपा के बारे में बहुत ही प्रामाणिक संदर्भों को उद्घाटित किया है। उदाहरणार्थ इस भाग के कुछेक अंश निम्नांकित हैं, यथा,

(क) '1934 में दूसरी बार मैं तिब्बत गया था। तालपोथियों को ढूँढ़ते अपने प्रिय मित्र गेशे धर्मवर्द्धने के साथ सा-क्या पहुँचा। ...पुजारी के यहाँ तालपोथियों के पत्तों के बंडल काट-काटकर भक्तों में प्रसाद बाँटने के लिए रेख हुए थे, उन्हीं में अदिसिद्ध सरहपा के दोहाकोश के पत्ते भी थे। दोहाकोश पहिले महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री और फिर उससे अच्छा डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका था। सा-क्या से लाये हुए ये पत्ते बीस वर्ष से मेरे पास पड़े थे। .....बागची के दोहाकोश में 112, तिब्बती अनुवाद में 134 और इसमें 163 दोहे हैं। मैंने तालपत्र से उतारना शुरू किया और महसूस किया कि इसे सम्पादित करना चाहिए।'[29]

(ख) 'शाम को 6 बजे सम्मेलन भवन में गोष्ठी हुई। सौ के करीब साहित्यकार आए थे। सभा से साहित्यकारों की गोष्ठी अच्छी होती है, क्योंकि इसमें हिल-मिलकर लोग बैठते, अपने विचार को प्रकट करते हैं। लेकिन, गोष्ठी की संख्या सीमित होनी भी जरूरी है। मैं भाषा और लिपि पर बोला। सारे देश की सम्मिलित भाषा होने और हमारे साहित्य और संस्कृति के वाहन बनने के कारण हमारी प्रेमास्पद है। लेकिन, मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि हमारी मातृभाषा-भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि- उपेक्षित कर दी जाएँ। वहाँ उपस्थित साहित्यकार बंधुओं में किसी की भी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी, और कुछ तो ठेठ भोजपुरिया थे, जिनका प्रायः सारा कथा-संलाप अपनी मातृभाषा में होता है।'[30]

(ग) 'जिस वक्त मैं पंक्तियों को लिख रहा हूँ, उस समय तीस वर्ष बाद मठ को जाकर देखे तीन ही महीने हुए हैं। पर, मेरे मानस-पटल पर तीस वर्ष पहिले का मठ अंकित है। शायद बुढ़ापे के मन पर प्रतिबिम्ब अधिक गाढ़ा नहीं होता, और जल्दी मिट भी जाता है। तब ईंट-चूने का नहीं, और मिट्टी और खपड़ैल का यह मठ था, उस समय सौ-सौ मूर्ति साधु यहाँ रहा करते थे। हर जगह चहल-पहल चलती थी।'[31]

(घ) '9 अप्रैल के सोमवार को संवत् 2012 चैत बदी 13 रही। 63 साल पहिले वैशाख बदी 8 रविवार को संवत् 1950 विक्रमी को पन्दहा में मैं पैदा हुआ। यहीं आकर 60वें जन्मदिन को कमला ने विशेष तौर से मनाया था। आज 64वाँ जन्मदिन था। हम निश्चय कर चुके थे कि उस दिन अपने घर ही में विशेष खाना-पीना कर लेंगे, पार्टी-वार्टी नहीं करेंगे। सबेरे नित्य नियम के अनुसार तीन घंटे टाइप कराया। दोपहर को और अपराह्न की चाय में कुछ विशेष भोजन रहा। इस प्रकार यह दिन समाप्त हो गया।'[32]

यात्रा-वृत्तांत की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि मनुष्य के सभी रागात्मक और भौतिक पराक्रम के प्रसंग में भी राहुल जी का समस्त अद्‌भुत व्यक्तित्व और सम्पूर्ण कृतित्व एक साथ विशेषत: विश्व की मनस्विता को प्रकाश भी देता है और चुनौती भी। संसार के प्राय: सभी दुर्गम-भूखंडों में घूमते हुए उन्होंने जो अनुभव बटोरे हैं, वे अनुपम हैं। कंधे पर कैमरा लटका कर और जेब में डायरी संजोते हुए इन्होंने अपनी जीवन-यात्रा में जो और जितना अर्जित किया वह नि:संदेह विश्व के वाङ्‌मय की दुर्लभ विरासत है। इस प्रसंग में पूरे विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि, किसी के चित्त में विपुल पृथ्वी पर फैले हुए वन-पर्वत, नद-नदी, पुष्प-पादप आदि के साथ फक्कड़ साधु-संतों के रूप में बेपरवाह यात्रियों की जीवन-छवियों को निहारने की तीव्र इच्छा जग जाए तब उसे सबसे पहले राहुल नाम के विश्व-विख्यात घुमक्कड़-यात्री की जीवन-यात्रा के संस्मरणों को पढ़ना चाहिए।

राहुल जी ने जो और जितना लिखा है उसे भाषा-शैली के किसी वर्ग में बांधना संभव नहीं है। एक साथ उसमें 'सिस्मोग्राफ' की तरह सफर के हर स्पंदन को अंकित करने और डायरी-लेखन, पत्राचार आदि की शैली में पूंजीभूत करने के अनेक रंग-रूप दिखाई पड़ते हैं। राहुल जी के यात्रा-लेखन में स्मृतिजनित विभिन्न विधाओं का संगम दिखाई पड़ता है। यात्रा-वृत्तांत के अतिरिक्त उन्होंने कथा-साहित्य, अनुवाद, आत्म-कथा तथा जीवनी, यात्रा-विवरण, राजनीति, विज्ञान, दर्शन, इतिहास, कोश-निर्माण, भोजपुरी-नाटक आदि के सुविस्तृत क्षेत्र में अपनी प्रतिभा के अशेष प्रकाश को बिखेर दिया है। चिंतकों ने राहुल जी ऐसे महान् यात्रा-संस्मरणकार को शायद ध्यान में रखते हुए यात्रा-वृत्तांतों को विचारों की प्रवहमान नदी की तरह माना है और उसमें महाकाव्य की उदात्त गरिमा और ऐश्वर्य की छवि को निहारा है।'[33]

संदर्भ ग्रंथ-

1. मराल, कुबेरनाथ राय, भारतीय ज्ञानपीठ, तीसरा संस्करण, हिन्दी साहित्य के भागीरथ राहुल सांकृत्यायन, पृ. 143.
2. घुमक्कड़ शास्त्र, अथातो घुमक्कड़-जिज्ञासा, पृ. 11.
3. 'एशिया के दुर्गम भूखंडों में', राहुल सांकृत्यायन, भारतीय प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, संस्करण : 2010, भूमिका।
4. किस-किस को नमन करूँ, शिवप्रसाद सिंह, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1987, बीहड़ पथ के महायात्रिक : राहुल, पृ. 29-30.
5. यात्रा के पन्ने, राहुल सांकृत्यायन, भारतीय प्रकाशन, संस्करण 2011, दो शब्द।
6. यात्रा के पन्ने, राहुल सांकृत्यायन, भारतीय प्रकाशन संस्थान, संस्करण : 2011, पृ. 56.,
7. 'एशिया के दुर्गम भूखंडों में', राहुल सांकृत्यायन, भारतीय प्रकाशन संस्थान, संस्करण : 2010, कुल्लू, पृ.-31.
8. 'एशिया के दुर्गम भूखंडों में', राहुल सांकृत्यायन, भारतीय प्रकाशन संस्थान, संस्करण : 2010, ल्हासा से उत्तर की ओर, पृ. 42.
9. 'एशिया के दुर्गम भूखंडों में', राहुल सांकृत्यायन, भारतीय प्रकाशन संस्थान, संस्करण : 2010, फिर्दौसी, पृ. 42.
10. 'एशिया के दुर्गम भूखंडों में', राहुल सांकृत्यायन, भारतीय प्रकाशन, संस्थान, सस्करण : 2010, काबूल को, पृ. 194-195.
11. मेरी जीवन-यात्रा-1, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 1996, बाल्य: 1893-1909 ई., पृ. 35.
12. मेरी जीवन-यात्रा-1, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 1996, पहिली यात्रा, पृ. 49.
13. मेरी जीवन-यात्रा-1, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 1996, दूसरी उड़ान, पृ. 74.
14. मेरी जीवन-यात्रा-1, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 1996, फिर हिमालय में (1926 ई.), पृ. 296.
15. मेरी जीवन-यात्रा-2, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, लंका में उन्नीस मास, पृ. 22.
16. मेरी जीवन-यात्रा-2, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, यूरोप यात्रा, पृ. 90.
17. मेरी जीवन-यात्रा-2, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, इंग्लैंड और यूरोप में, पृ. 113.
18. मेरी जीवन-यात्रा-2, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, द्वितीय तिब्बत-यात्रा, साक्य की ओर, पृ. 178.
19. मेरी जीवन-यात्रा-3, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, ईरान में, पृ. 19-20.
20. मेरी जीवन-यात्रा-3, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, अकारण बन्धु, पृ. 26.
21. मेरी जीवन-यात्रा-3, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, रूस में प्रवेश, पृ. 40-41.

22. मेरी जीवन-यात्रा-3, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, लेनिनग्राद में, भारत का अभिनन्दन, पृ. 46.
23. मेरी जीवन-यात्रा-3, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, पुनः हिमकाल, पृ. 166.
24. मेरी जीवन-यात्रा-4, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, रूस से लौटा, पृ. 233.
25. मेरी जीवन-यात्रा-4, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, देश का चक्कर, पृ. 241.
26. मेरी जीवन-यात्रा-4, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, साहित्य-यात्रा, पृ. 257.
27. मेरी जीवन-यात्रा-4, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, राष्ट्रभाषा की जद्दोजहद, पृ. 346.
28. मेरी जीवन-यात्रा-4, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, शांतिनिकेतन में, पृ. 370.
29. मेरी जीवन-यात्रा-5, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, सरहपा के चरणों में, पृ. 182.
30. मेरी जीवन-यात्रा-5, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, सरहपा के चरणों में, पृ. 189.
31. मेरी जीवन-यात्रा-5, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, छपरा, पृ. 256.
32. मेरी जीवन-यात्रा-5, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्ण प्र.प्रा.लि., पहला संस्करण : 2002, 63वें वर्ष की समाप्ति, पृ. 283.
33. "The style of a volume of memoirs is quite different from that of a work history. The latter should have a certain epic quality. History is a flowing river. A slow, continuous movement is best suited to it. It is natural, too, that it should be interlarded with general maxims. We like the author of memoirs, on the contrary, to write in a personal style which is closer to that of the novelist. We are amused by his sallies. We find instruction in the vigour, and even the violence, of his portraits. We are grateful to win for including anecdotes which, however trivial in themselves, illuminate an epoch and help us to understand the characters of individuals." Cassel's encyclopaedia of literature, edition by S.H. Steinberg, Volume-1, Page-64-65

201, वैशाली अपार्टमेंट
उत्तरी श्रीकृष्णपुरी
पटना-800013

❖●❖

अपने कार्य को सूर्य, चन्द्रमा और तारों की भाँति निःस्वार्थ भाव से निष्पादित करो, तभी सफलता मिलेगी।

- स्वामी रामतीर्थ

जो चढ़ाई हमें मंजिल तक ले जाती है, वह मुश्किल जरूर होती है लेकिन सफल होने का रोमांच कुछ और ही होता है।

- नीति वचन

आचार्य शिवजी और उनकी सम्पादन-कला

– आचार्य श्रीरंजन सूरिदेव

साहित्यवाचस्पति डॉ॰ श्रीरंजन सूरिदेव कहते हैं कि 'कालोन जातो वयमेव जाता:'– अर्थात् काल नष्ट नहीं होता, वरन् हम संसारी ही नष्ट हो जाते हैं। परन्तु आचार्य शिवपूजन सहायजी के लिए यह बात उलटी है– काल नष्ट हो जायगा, पर आचार्य शिवजी अमर रहेंगे। आचार्य शिवजी आध्यात्मिक दृष्टि से अशोच्य हैं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उनका चला जाना बड़ा अखरता है और ज्यों-ज्यो समय बीतेगा, उनका अभाव सारस्वत जगत् को अधिक अखरेगा।

आज हिन्दी अपनी मूलप्रवृत्ति का परित्याग कर अंग्रेजी साँचे में ढलती जा रही है। उसकी मूल प्रवृत्ति और प्रकृति अँगरेजियत से आक्रान्त होती जा रही है। किन्तु, आचार्य शिवजी ऐसी हिन्दी के स्वनाम धन्य लेखक थे, जिसमें उसका अपना संस्कार सोलहों कलाओं के साथ दिपता-दमकता दिखवा है। पं॰ बाल कृष्ण भट्ट, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और महाप्राण निराला की गद्य-शैली के प्राग्भारतीय संस्कार का पुष्ट परिनिर्वाह अकेले आचार्य शिवजी ही करते थे। सही माने में वह गद्यकार थे–शैलीकार थे।

हिन्दी-जगत् में आचार्य शिवजी का व्यक्तित्व कई रूपो में निखरा था। वह अति-उच्चकोटि के सम्पादक थे। अद्वितीय प्रूफ-संशोधक थे, अपूर्व भाषा-शिल्पी थे, साधक थे, सिद्ध थे, महामानव और देवतात्मा थे। किन्तु, भाषा-परिमार्जक का व्यक्तित्व उनके उक्त सभी व्यक्तित्वों से बढ़-चढ़कर था। सचमुच, भाषा-परिमार्जक एवं परिनिष्ठित प्रयोक्ता होने के कारण ही हिन्दी-सेवी संसार उनका एक महान् हिन्दी-सेवी सम्पादक के रूप में वन्दन-अभिनन्दन करता है। सच पूछिए तो उनका सारा जीवन हिन्दी का खलिहान साफ करने में ही बीत गया।

व्यष्टि की दृष्टि से इसका परिणाम तो बड़ा दु:खावह हुआ कि वह स्वयं अधन बने रहे, किन्तु सुख की बात भी है कि हिन्दी सधन और सम्पन्न बन गई। उनके इस रूप के लिए यह शिवस्तुति कितनी सटीक है!

विश्वभर्त्तापि यो भिक्षुः भूतावासोऽनिकेतनः।
विश्वगोप्तापि दिग्वासाः तस्मै कस्मै नमो नमः॥

अर्थात्, जिसने विश्व का भरण-पोषण किया, वह स्वयं भिखारी बना रह गया; जिसने समस्त प्राणियों के लिए आवास की व्यवस्था की, वह स्वयं गृह-विहीन रह गया; और जिसने विश्व के लिए, विश्ववासियों के लिए तन ढकने का प्रबन्ध किया, वह स्वयं दिगम्बर रह गया, ऐसा उस देवता के लिए बार-बार नमस्कार!

कहना न होगा कि आचार्य शिवजी की लेखन विधि बहुत बड़ी थी। कागज के पन्ने पर जब उनकी प्रज्ञापूत लेखनी चलती थी, तब बहुत सोच-समझकर। उनकी लेखनी कभी उन्माद या भय से ग्रस्त होना नहीं जानती थी और न राह चलते कभी दुर्घटना-ग्रस्त होती थी। लगता था, जैसे कोई जैन भिक्षुणी प्राणिहिंसा से बचने के लिए फूँक-फूँक कर कदम रख रही हो, जिसके जीवन का उद्देश्य केवल सर्वजन हिताय है, परोपकाराय है। उनकी लेखनी से कभी किसी का अहित हुआ हो, ऐसा कोई उदाहरण नहीं है। उनकी वह दूरदर्शिनी लेखनी बहुत ही सतर्कता बरतती थी, और जब चलती थी, अपनी परिणाम की उत्तमता कभी नहीं भूलती थी।

उनकी वैसी लेखनी उनके अन्तिम क्षण तक उनकी अँगुलियों में अविश्रान्त बनी रही। न वह कभी थकी, न रुकी और न कभी झुकी। आज भी जेब इनकी दिव्य अंगुलियों में बँधी, मोती जैसे अक्षर उगलती लेखनी हिन्दी को याद आती होगी, तब उसका कलेजा अवश्य ही कचोटता होगा, मन बेमन बनकर अधीर हो उठता होगा। हिन्दी सेवियो के लिए तो यह कथित दु:खस्थिति उनके मन में निश्चय ही दुहरती है।

आचार्य शिवजी सच्चे अर्थ में सम्पादकाचार्य थे। सम्पादन-कार्य कितना गहन होता है, यह उनके तद्विषयक परिश्रम से पता चलता है। वह बिहार-हिन्दी-साहित्य- सम्मेलन शोध-समीक्षा-प्रधान त्रैमासिक मुखपत्र **'साहित्य'** के प्रधान सम्पादक थे। **'साहित्य'**

का सहकारी सम्पादक होने के नाते मैंने उनके सम्पादन-अनुष्ठान की प्रणाली को निकट से देखने का सौभाग्य प्राप्त किया था। उनके सम्पादन-कौशल का ही परिणाम था कि सामान्य लेखक की लेखनी विशिष्ट बन जाती थी। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में बिहार-महिला-चरखा-समिति के तत्त्वावधान में प्रकाशित 'बिहार की महिलाएँ' (श्रीराजेन्द्र-अभिनन्दन-ग्रन्थ) का आदर्श सम्पादन किया। यह उनकी अंतिम सम्पादित कृति है। 'बिहार की महिलाएँ' की सम्पादित पाण्डुलिपि की पंक्ति-पंक्ति यह उद्घोष करती है कि उन्होंने इस कृति के सम्पादनकार्य में अपने शरीर को होम कर दिया था। मेरा दावा है कि सम्पादन-कार्य में इस प्रकार का स्वेदवाही श्रम करने वाला सम्पादक अब हिन्दी-जगत् को नहीं मिलेगा।

आचार्च शिवजी अपनी सम्पादन-कला के प्रेरणा-प्रतीक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को मानते थे। इसलिए वह सम्पादन-श्रम की कठोरता से ऊबने के बजाय उसमें डूबकर उसे अनुकूलित कर लेते थे। पाण्डुलिपि का सम्पादन करते समय उनके समक्ष भाषा, लेखक और प्रेस ये तीन अवश्य ध्यातव्य रहते थे। वह कहते थे कि सम्पादक के समक्ष विभिन्न लेखकों की विभिन्न प्रकार की रचनाएँ आती हैं। सबकी शैली, लिखावट और व्याकरण-संबंधी मान्यताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। उन सभी रचनाओं को अपने पत्र या पत्रिका की भाषा, वर्त्तनी आदि की निर्धारित नीति के अनुकूल बनाना, साथ ही लेखक के विषय की मौलिकता को सुरक्षित रखना एक ओर जहाँ बहुत बीहड़ कार्य मालूम होता है, वहीं दूसरी ओर विभिन्न लेखकों की विभिन्न रुचियों के आस्वाद में अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है।

आचार्य शिवजी लेखक की वैयक्तिक मौलिकता को जितना महत्त्व देते थे, उतना ही महत्त्व उसके विषय की मौलिकता की अक्षुण्णता को भी देते थे। लेखक के विषय की मौलिकता को अक्षुण्ण रखते हुए उसके आलेख में भाषिक चमत्कार पैदा कर देना उनकी सम्पादन-कला की अपनी विशेषता थी। 'बिहार की महिलाएँ, के सम्पादन-काल की अपनी विशेषता थी। 'बिहार की महिलाएँ' के सम्पादन-काल में मैंने देखा है कि चालीस-चालीस पृष्ठों के आलेखों को कुल चार पृष्ठों में फिर से वह लिख देते थे। अपने जीवन के अन्तिम प्रहर में भी अहोरात्र सम्पादन-तत्परता का ऐसा उदाहरण बहुत कम मिलेगा। उस समय उनकी अपनी वैयक्तिक स्थिति कठिन संघर्ष का प्रतीक बनी हुई थी। सम्पादन के पीछे वह जी-जान लगा देते थे। सांसारिक यातनाओं की परवाह किये बिना उनकी लेखनी अविराम चलती थी। उनके यथा प्रस्तुत पत्र के कतिपय अंश यहाँ संदर्भित हैं, जिन्हें उन्होंने मुझे लिखा था। उनके शब्द हैं:

'...आज भी दो पन्ना लिख सका। उसे भेजता हूँ कल फिर कुछ लिख सकूँगा, तो परसों भेजूँगा। ...इस समय मन स्थिर नहीं है। परिवार अस्त-व्यस्त और खिन्न है। क्या लिखा और क्या लिखना चाहिए, यह सन्तुलन नहीं रह पाता। फिर भी, आपका काम रुकेगा नहीं।...बहुत चिन्तित और श्रान्त हूँ। विश्राम के क्षण दुर्लभ हो गये हैं।'

साहित्य-सम्पादन के क्रम में आचार्य शिवजी द्वारा लिखे गये एक पत्र के कुछ शब्द हैं:

'...गत सोमवार को थोड़ा लिखा था। उसे भेजता हूँ अचानक शेखर (आचार्यश्री का पौत्र) की दशा में शोचनीय हो गई और मंगलवार को प्रातःकाल उसका देहान्त भी हो गया। इसलिए फिर आगे नहीं लिख सका। आज त्रिरात्रि है। क्षौरकर्म और पिण्डदान की रस्म पूरी हो जायगी। उसके बाद फिर लिखूँगा। कल भी लिखूँगा। परसों शनिवार को एक अंक की समालोचना पूरी करके भेज दूँगा। तब फिर दूसरे अंक के लिए लिखूँगा।'

आचार्य शिवजी की सम्पादन-कला और नीति की झाँकी उनके एक दूसरे पत्र में द्रष्टव्य है। उन्होंने लिखा था: **'...बारह लेख भेजता हूँ। उनमें एक सम्पादित नहीं है। मुझे सूझता ही नहीं, पढ़ा नहीं जाता। आप उसे ठीक कर लें। बहुत ही संक्षिप्त कर दें। केवल अतिशय आवश्यक बातें रहने दें। अन्य लेखों में अधिकांश आवश्यक बातें आ गई हैं। आप प्रूफ पढ़ते समय सावधान रहा करें, जहाँ कहीं पुनरुक्ति-सा दीख पड़े, अपने सम्पादकीय अधिकार का सदुपयोग कर डालिए।'**

सम्पादन-कार्य में आचार्य शिवजी की अविश्रांत सयत्नता, परिश्रमशीलता, सचेष्टता तन-मन की स्थिति से निर्लिप्तता तथा अपने सहयोगी पर एकान्त स्नेहिल आस्था आदि कुछ ऐसे गुणादर्श हैं, जिनसे उनके निश्छल हृदय की हिमालयोच्चता का संकेत मिलता है।

उनकी सम्पादन-पद्धति बौद्धिक श्रम की चरमावस्था का ज्वलन्त प्रतीक रहा है। छोटे-बड़े सभी प्रकार के लेखकों की कदर करने और उनका नाज उठाने की कला तो वह अपने साथ ही लेते चले गये। वह सम्पादन कला के मर्मज्ञ तो थे ही, लेखकों के प्रति आदर-भावना के भी पर्याय थे। वह लेखकों के लिए आदर्श सम्पादक थे तो सम्पादकों के लिए आदर्श लेखक थे। वह न केवल लेखकों का ही आदर करते थे, वरन् उनके आलेखगत भावों और विचारों का भी पूरा सम्मान करते थे। उनका सम्पादन-कार्य लेखकों को हतोत्साह करने या उन्हें लेखन-प्रवृत्ति से विरत करने के लिए नहीं था, अपितु प्रबुद्ध लेखक, सुबुद्ध साहित्यकार एवं सुनिपुण कलाकार की सर्जना ही उनके सम्पादन का मूल उद्देश्य था। उनका सम्पादक-व्यक्तित्व कभी विवाद्य और आलोच्य नहीं हुआ। आचार्य शिवजी के सम्पादन-स्पर्श से अपने लेखन को धन्य माननेवाले लेखकों का विशाल वर्ग आज भी हिन्दी-जगत् को उन्नीत करने में संलग्न है। सचमुच, आचार्य शिवजी हिन्दी के सुमेरु-शिखर थे।

आचार्य शिवजी की जितनी तत्परता सम्पादन में रहती थी, उसे अधिक संनद्धता भाषा-संशोधन में रहती थी। प्रूफ की एक भी अशुद्धि उनके अन्तस्तल को सालने-कचोटने लगती थी। असतर्कतावश मुद्रित होने के बाद रह जाने वाली प्रूफ की गलतियों को देखकर उनका खिलता हुआ चेहरा मुरझा जाता था। उनका कहना था कि एक अच्छे सम्पादक का एक अच्छा प्रूफरीडर होना भी अनिवार्य है। निश्चय ही, प्रूफ-संशोधन सम्पादन का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

अब तो मुद्रण-कला का व्यापक वैज्ञानिक विकास हो गया हैं आचार्य शिवजी के मुद्रण-युग की बात करें तो वह प्रूफ-संशोधन के समय प्रेस की कठिनाइयों पर भी पूरा ध्यान रखते थे। उनका देखा हुआ प्रूफ इतना परिष्कृत और सज्जित होता था कि प्रेस-कम्पोजिटरों को न कभी किसी प्रकार की असुविधा होती थी और न बार-बार प्रूफ माँगने की नौबत ही आती थी। फलतः मुद्रण का कार्य बड़ी शीघ्रता से होता था और मुद्रण के बाद अशुद्धियों की सम्भावना भी कम रहती थी। टाइपों के चुनाव और मैटर की सजावट में तो आचार्य शिवजी की अभिरुचि बड़ी सटीक होती थी। सम्पादन-प्रूफ-संशोधन की तरह सामग्री-सज्जा में भी उनकी अक्लान्त तत्परता अभिनन्दनीय होती थी। हिन्दी के मुद्रण-प्रकाशन को विकसित होते देखने की लालसा उनके मन में सदा बनी रहती थी। वह अहर्निश सम्पादन-कला के अतिरिक्त मुद्रण-प्रकाशन-कला में भी अभिरामता की प्रतिष्ठा के निमित्त उद्विग्न रहते थे। आज यदि वह जीवित रहते तो मुद्रण-कला के आधुनिक वैज्ञानिक विकास को देखकर अन्तर्मन से प्रसन्न होते।

मुद्रण में सामग्री-सज्जा की तत्परता आचार्य शिवजी के एक पत्र में द्रष्टव्य है। 'बिहार की महिलाएँ' के सम्पादन-क्रम में उन्होंने मुझे निर्देश किया: 'लेख जिस पृष्ठ में समाप्त हो, उसमें यदि नीचे स्थल खाली बचे तो वहाँ कोई अच्छी सूक्ति दे ही दीजिएगा और नये पेज से 'बिहार की महिलाएँ' शरू कराइएगा। यह शीर्षक कुछ बड़े सुन्दर टाइप में रहेगा। फिर, महिलाओं के नाम का टाइप उससे कुछ छोटे टाइप में रहे। लेखकों का नाम जैसे पहले था, वैसे ही रहे।'

यह ध्यातव्य है कि आचार्य शिवजी सम्पादक के साथ ही समीक्षक, भाषा-परिमार्जक एवं हिन्दी की खूबी-खराबियों पर निरन्तर मर्मभेदी दृष्टि रखनेवाले थे। उनकी सम्पादकीय टिप्पणियों के पाठकों को यह मालूम होगा कि उनकी टिप्पणियाँ कितनी रचनात्मक और हिन्दी के व्यापक हितों की ओर संकेत करने वाली हैं। सम्पादन के नाम पर हिन्दी में गंदगी या धाँधली फैलाने वाले के प्रति वह सदा खड्गहस्त बने रहते थे। ऐसी जगह में उनका समीक्षक वाला रूप शिव के तृतीय नेत्र की तरह उन्मीलित हो उठता था। त्रैमासिक 'साहित्य' में 'प्राची-प्रकाश' नामक पत्र के दीपावली-विशेषांक की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा-'इस पत्र को भारत के साहित्य-सेवियों का सहयोग प्राप्त है। इसके माध्यम से बर्मा में हिन्दी-प्रचार की वृद्धि हो रही है। यह बर्मा-प्रवासी भारतीयों में सद्भावना भी बढ़ा रहा है। भारतवासियों को यह बर्मा-प्रवासी भारतीयों की स्थिति से परिचित कराता रहता है। इससे यह भी पता चलता है कि बर्मा में भी हिन्दी के बहुत से लेखक और कवि हैं। बर्मा के भारतीयों में स्वदेश (भारत) की संस्कृति और भाषा के प्रति जो ममता है, उसका परिचय भी इससे मिलता है।' पर, इसके साथ ही आचार्यश्री ने यह भी लिखा-'इस विशेषांक की मुद्रण और सम्पादन संतोषप्रद नहीं है। छपाई में शुद्धता और स्वच्छता की कमी है। संपादन-कार्य में तन्मयता और सावधानता का अभाव है। एक लेख इसमें है- 'राम

की हृदयहीनता। उसके लेखक हैं-नवीन चन्द्र काकू भाई ठक्कर। उनके अनर्गल विचार बड़े असन्तुलित हैं। आवेग और आक्रोश से भरा हुआ ऐसा लेख इस पत्र की साहित्यिक मर्यादा को धक्का पहुँचाता है।

विशेष के विश्लेषण से सामान्य निष्कर्ष निकालना या सिद्धान्त का प्रतिपादन करना समीक्षक का दायित्व है। आचार्य श्री का निष्कर्ष देखिए- 'तर्क, युक्ति संगत संयत विचार का लेख मतभेद रखनेवालों को भी आकृष्ट कर लेता है। किन्तु, लेखक के विचार से सहमत होनेवाले ऐसी अवांछनीय शैली कदापि न पसन्द करेंगे। आजकल बहुत से आवेगपूर्ण लेखक प्रकाशित होते हैं, जिनमे विचारों का संतुलन नहीं होता। पत्र-सम्पादक की यह जिम्मेवारी है कि वह निरंकुश लेखनी की नकेल सँभाले।' अन्तिम वाक्य आचार्य शिवजी की टकसाली भाषा और विशिट गद्य शैली का एक उत्कृष्ट नमूना है।

आचार्य शिवजी का शरीरपात हिन्दी-साहित्य पर अनभ्र वज्रपात है। आचार्य द्विवेदी के निधन के बाद हिन्दी-साहित्य में सम्पादन-संशोधन तथा भाषा-परिमार्जन-परिष्करण का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व वही ढो रहे थे। उनकी समाप्ति के साथ ही हिन्दी का टकसाली प्रयोग समाप्त हो गया! कहावतों और मुहावरों से सजी, अधिक से अधिक को कम से कम में कहने की तन्त्रात्मक पद्धति निरस्तित्व हो गई! लेखकों का कद्रदाँ सम्पादक शेष हो गया!

वस्तुत: आचार्य शिवजी जैसे शमी और यमी सम्पादक नितान्त दुर्लभ हैं। आज की अधिकतर हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं की भाषा-भ्रष्टता, सम्पाद्य सामग्री की सदोषता, सम्पादन-श्रम में तस्करता, एवं सम्पादक-मण्डल की तथाप्रथित प्रथा से वह अत्यन्त असंतुष्ट रहते थे। उनका कहना था कि आज की पत्र-पत्रिकाओं में सम्पादन के नाम पर हिन्दी का दुरुपयोग होता है। उनको हिन्दी की वर्त्तमान दशा से दु:ख होता था।

- प्रधानमंत्री,
बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन
पटना-800003

❖●❖

धर्म का सार ग्रहण करो। उस सार को अपने मन में धारण करो। जो व्यवहार स्वयं को पसंद न हो, उसे दूसरे के साथ न करो- धर्म का यही सार है।

आचार्य शिवपूजन सहाय : अनन्य सम्पादकाचार्य

– डॉ॰ बजरंग वर्मा

वास्तव में, मैं इसे अपना सौभाग्य ही मानता हूँ कि अपनी छात्रावस्था से ही, मुझे आचार्य जी जैसे महान् हिन्दी-सेवी के सम्पर्क में रहने का अवसर मिला। अपने पिताश्री के देहान्त के पश्चात् अपने पैत्रिक नगर 'छपरा' के 'जिला स्कूल' से 'मैट्रिक' की परीक्षा पास करने के बाद, अपनी कॉलेज की पढ़ाई के लिये जब मैंने वहाँ के राजेन्द्र-कॉलेज में अपना नामांकन कराया तब तो उनके एक प्रिय छात्र के रूप में मैं उनके और भी निकट आ गया। 'राजेन्द्र कॉलेज' कई माने में उन दिनों तत्कालीन बिहार का इकलौता कॉलेज था, जहाँ एक साथ तीन-तीन संकायों की पढ़ाई होती थी और वहाँ एक-से-एक हिन्दी विद्वानों का जमघट भी था। वहाँ के 'हिन्दी-विभागाध्यक्ष' आचार्य सहायजी के अतिरिक्त, प्रिंसिपल मनोरंजन, जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज, डॉ॰ नरेन्द्र, डॉ॰ देवराज, डॉ॰ मुरलीधर श्रीवास्तव, डॉ॰ रामजी पाण्डेय आदि जैसे हिन्दी के और भी कई धुरंधरों का अखाड़ा था वह कॉलेज उन दिनों।

एक दिन सन् 1947 में, कलकत्ते से प्रकाशित लोकप्रिय मासिक 'युगवाणी' (अंक मेरे पास आज भी सुरक्षित) में आचार्य जी को जब अचानक मेरी एक कहानी पढ़ने को मिली, तब तो उन्होंने मुझे और अपने निकट बुलाकर साहित्य सृजन एवं हिन्दी-सेवा की ओर प्रवृत्त होने का निर्देश दिया। आगे चलकर, जब पटना में, सरकार द्वारा देश का प्रथम शोध-सह-प्रकाशन-संस्थान 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' की स्थापना हुई और वे उसके प्रथम 'संचालक या 'निदेशक' बने, तब उन्होंने मुझे उसकी सेवा में बुला लिया। और, उनके जीवन के अंतिम दिनों सन् 1963 तक, बिहार के साहित्येतिहास-लेखन के संदर्भ में मैं उनके साथ एक ही टेबल पर कार्यरत रहा।

लगभग सवा पाँच फीट का इकहरा बदन, गोरा-चिट्टा रंग, करीने से छँटी मूँछे, मोटे फेम के चश्मे के भीतर से झाँकतीं बड़ी-बड़ी कारुणिक आँखें, हरवक्त बनारसी-पान चबाते और खादी की उजली टोपी, कुरता-बंडी और घुटने तक की धोती तथा बाटा के बने सस्ते चप्पल पहने आचार्य शिवजी को सामान्य ग्रामीण जनता से छाँटकर अलग करना मुश्किल था। सन् 1925 में रचित अपने बहुचर्चित, हिन्दी के प्रथम आंचलिक उपन्यास 'देहाती-दुनियाँ' में बड़े स्पष्ट शब्दों में उन्होंने स्वयं कहा है कि **'मैं एक ऐसे ठेठ देहात का रहने वाला हूँ, जहाँ इस युग की सभ्यता का धुँधला प्रकाश भी नहीं पहुँच पाया है। वहाँ केवल दो ही चीजें देखने में आती हैं- 'अज्ञानता का घोर-अंधकार और दरिद्रता का ताण्डव-नृत्य।'**

आचार्य जी जैसे बाहर के सरल थे, वैसे भीतर के भी। बल्कि, भीतर के तो इतने सरल कि एक साधारण से परिचय में भी, आपके अपने सदा के लिये बन जायँ। शायद अपनी इसी ग्राम-सुलभ सरलता एवं सादगी के कारण ही वे उन महापुरुषों की निगाह में बहुत बाद में आये, जिनके हाथों में, बड़े आदमियों के परखने का आला था।

सच पूछिए तो आचार्यजी एक साहित्यिक संत ही थे। सरलता और महानता का इतना अच्छा संयोग अपने हिन्दी-संसार में, मैंने तो नहीं देखा। 'सत्य' और 'सुन्दर' के साथ, 'शिव' में उनकी असीम आस्था थी। भगवान शिव का पूजन भी उनकी दिनचर्या का एक आवश्यक अंग था। संवेदनशील इतने कि किसी को असहाय नहीं देखना चाहते थे। ध्यान दीजिए तो उनका नाम ही उनके व्यक्तित्व की पूरी व्याख्या कर डालता है। ईश्वर की सत्ता में तो उनकी गहरी आस्था थी। अपनी साहित्यिक उपलब्धियों के परिणामस्वरूप उन्हें जीवन के सांध्य में जो कुछ भी यश और सम्मान मिला, उसे ईश्वर की कृपा समझकर वे शिरोधार्य करते गये। अडिग स्वाभिमान और असीम शक्तिपुँज के साथ अतिशय विनम्रता थी उनमें। उनकी उनहत्तरवीं वर्षगाँठ पर, जब 'पटना-नगर-निगम' की ओर से उनका नागरिक-अभिनन्दन किया जा रहा था, तब उन्होंने कहा था कि **'जिसे ईश्वर की सत्ता में विश्वास न हो, वह आज आँखें खोलकर देख ले कि मेरे जैसा अल्पज्ञ और साधारण वुद्धिवाले व्यक्ति को आज आकारण नागरिक-सम्मान मिल रहा है।'**

उनका जीवन जितना संघर्ष में बीता उतना कम ही साहित्यकारों का बीता होगा। प्रकाशकों की कृपा से उनके इस संघर्ष में और तीव्रता आई। और कदाचित् इसी कारण हिन्दी-प्रकाशकों के संबंध में उनके अनुभव बड़े ही तीखे थे। इसी संदर्भ में वे कहा करते थे कि **'अंधी पीसे कुत्ता खाय, यह कहावत मुझी पर सटीक बैठती है।'**

आचार्य शिवपूजन सहायजी, जिन्हें सामान्यत: लोग 'शिवजी' के नाम, से अभिहित करते थे, के नाम के पूर्व 'हिन्दी-भूषण' की विशेषणोपाधि एक प्रकार से उनके नाम का पर्याय बन गई थी। और सच पूछिए तो उनकी यह उपाधि उन पर फबती भी थी; क्योंकि

अपने जीवन की अंतिम साँस तक वे हिन्दी के एक सजग प्रहरी एवं संरक्षक तो रहे ही, अपनी बहुविध रचनाओं के माध्यम से उन्होंने हिन्दी को अलंकृत और भूषित भी किया। और, इस दृष्टि से वे सचमुच 'हिन्दी-भूषण' ही थे।

आरा (बिहार) के, के॰जे॰ अकादमी में रहते हुए, वहाँ की 'नागरी- प्रचारिणी-सभा' के मंच से उन्होंने हिन्दी-सेवा का जो व्रत लिया, उसका समर्पित-निर्वाह उन्होंने अपने जीवन के अंतिम दिनों तक किया।

आचार्य शिवजी ने हिन्दी की सेवा बहुविध रूपों में की और, अपनी सीधी-सादी शैली तथा सहज प्रवाह के माध्यम से उन्होंने हिन्दी-गद्य को एक नया मोड़ दिया। साहित्य की प्रायः प्रत्येक विधा में अपनी लेखनी चलाकर उन्होंने प्रभूत यश अर्जित किया। उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना, जीवनी, संस्मरण, यात्रा, यहाँ तक कि कविता लिखने में भी वे पीछे नहीं रहे। उनके **'देहाती-दुनियाँ'** उपन्यास को, हिन्दी के 'प्रथम आंचलिक-उपन्यास' होने का गौरव मिला और उनके लिखित निबंध तथा उनकी कहानियों को भी कुछ कम प्रशंसा नहीं मिली। किन्तु सच पूछिए तो एक 'सम्पादक' के रूप में, उन्हें जो ख्याति मिली वही निश्चय ही इन सबों के ऊपर थी। और सही माने में एक वे सम्पादकाचार्य' ही थे, एक अनन्य सम्पादकाचार्य।

इसमें संदेह नहीं कि अपने सम्पादन-कार्म को उन्होंने उसी गंभीरता से लिया, जिस गंभीरता से उनके पूर्ववर्त्ती पं॰ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके समकालीन पं॰ श्रीनारायण चतुर्वेदी लेते थे। किन्तु, आचार्य शिवजी की इन दोनों से एक अलग ही विशेषता थी। सुविख्यात भाषाविद् एवं हिन्दी सेवी डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र ने एक स्थान पर ठीक ही लिखा है कि **'एक लम्बे अरसे तक एक शिक्षक होने के बावजूद, एक सम्पादक के रूप में, शिक्षक का भाव न दिखाकर वे सेवक का भाव ही दिखाते थे। और बिना सम्पादकीय-आतंक जमाये, बड़े-बड़े दिग्गजों का भी हल्के इशारे से, उनकी भाषागत भूल बताकर उनकी रचना का संस्कार कर देते थे। उनका आचार्यत्व द्विवेदीजी के आचार्यत्व से सर्वथा भिन्न, एक विचित्र विनम्रता लिये हुए था।**

इसीलिये मैं मानता हूँ कि उस समय 'सरस्वती' के सम्पादक यदि आचार्य जी होते तो वे निराला की वह सर्व प्रशंसित-रचना 'जुही की कली' कथमपि वापस नहीं करते- 'विजनवन-वल्लरी में, सोई थी सुहाग भरी, जूही की कली।'

हिन्दी में, कौन कहाँ क्या कुछ अच्छा और नया लिख रहा है, उससे सम्पर्क साधने में भी आचार्य शिवजी विलम्ब नहीं करते थे। नये-पुराने कवियों और लेखकों के अहं की तुष्टि करना वे खूब जानते थे।

दूसरी बात यह कि अपनी सम्पादन-कला को उन्होंने जो विस्तार दिया, वह उनके पूर्ववर्त्ती सम्पादकाचार्यो में नहीं मिलता। एक उच्च कोटि के जिम्मेदार सम्पादक होने के साथ-साथ आचार्य जी एक अद्वितीय 'भाषा-परिमार्जक', 'भाषा-शिल्पी' एवं प्रूफ-संशोधक' भी थे। इन क्षेत्रों में तो उनपर 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' की उक्ति चरितार्थ होती है। अनेक पत्रिकाओं का कुशल-सम्पादन कर, उन्होंने प्रभूत प्रतिष्ठा तो अर्जित की ही, एक 'भाषा-परिमार्जक' एवं 'प्रूफ-संशोधक' के रूप में भी उन्होंने एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

अपनी चालीस वर्षों की अनवरत साधना से, उन्होंने अपने समय की हिन्दी की साहित्यिक-पत्रिकाओं को सँवारा-सजाया। बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के पूर्व अध्यक्ष आचार्य केसरी कुमार का मानना है कि **"वे तेरह पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक रह चुके थे और प्रत्येक पर उन्होंने अपनी छाप छोड़ी थी। सम्पादन के विज्ञान और कला- दोनों में वे अपने काल के शायद सबसे अधिक सतर्क और संकल्प-प्राण साहित्यिक-सम्पादक थे। यदि कोई पत्रिका अथ से इति तक सुसम्पादित, शुद्ध, सुरुचिपूर्ण और मर्यादित लगती हो, यदि वह आद्यन्त शब्दों के रूप और विभक्तियों के स्थान से लेकर विराम-चिह्नों तक भाषा की एकरूपता बरतती हो, यदि वह कम-से-कम पृष्ठों में अधिक-से-अधिक पठनीय सामग्री देती हो और यदि वह अपनी प्रकाशन-अवधि की समस्त साहित्यिक उपलब्धियों और हलचलों को सम्पुटित करती हो तो समझ लीजिए, वह 'शिवपूजनी-छाप वाली पत्रिका है।"**

पत्रिका-सम्पादन संबंधी अपने कार्य का श्रीगणेश उन्होंने 'आरा मारवाड़ी- सुधार-समिति' की पत्रिका 'मारवाड़ी-सुधार' (1921) के सम्पादन से किया। यह पत्रिका वहीं के एक लक्ष्मीपुत्र-शिष्य हरिद्वार प्रसाद जालान के प्रयत्न से निकली थी। इसकी छपाई कलकत्ता के 'बालकृष्णा-प्रेस' (23 शंकरघोष-स्ट्रीट) में होती थी। अतएव, उसी सिलसिले में उन्हें अक्सर कलकत्ता आना-जाना पड़ता था। वहाँ आते-जाते उन्हें एक दूसरी पत्रिका 'आदर्श' के सम्पादन का भार भी दे दिया गया था। कुछ ही दिनों बाद, अपने गुरु पं॰ ईश्वरी प्रसाद शर्मा के निर्देशानुसार, कलकत्ते में ही रहकर वे अपना कार्य सम्पन्न करने लगे। उसी समय वे 'मतवाला'

मंडल के प्रधान महादेव प्रसाद सेठ और हिन्दी सेवी मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव के सम्पर्क में आये और 'मतवाला-मंडल' में शामिल हो गये। फिर, सेठजी के सरंक्षण में ही वे 'मतवाला' (1923) का सम्पादन करने लगे। सुना जाता है कि उनके द्वारा सम्पादित 'मतवाला' का पहला अंक जिस दिन निकला, उस दिन पूरे कलकत्ता में एक हंगामा-सा मच गया और देखते-ही-देखते उसकी सारी की सारी प्रतियाँ बिक गईं और उसी शाम मशीन पर उसका 'फर्मा' दुबारा चढ़ाना पड़ा।

'मतवाला-मंडल' से विदा लेकर, आचार्य शिव जी, 'गंगा-पुस्तकमाला' के अधिष्ठाता दुलारलाल भार्गव के बुलावे पर, **'माधुरी'** (1924) के सम्पादकीय-विभाग में चले गये। नवलकिशोर-प्रेस की साधन-सम्पन्नता, दुलारे लाल भार्गव की कर्मठता तथा आचार्य शिव जी के सम्पादन-सहयोग के परिणामस्वरूप कुछ ही दिनों में, **'माधुरी'** हिन्दी-पाठकों की अत्यन्त प्यारी बन गई। फिर कहते हैं, कि दुलारेलाल भार्गव के व्यवहार से दुखी होकर वे फिर कलकत्ता वापस चले आये और वहाँ पुनः 'मतवाला' के साथ-साथ वे 'हिन्दी-पुस्तक-एजेंसी' द्वारा प्रकाशित **'उपन्यास तरंग'** (1925) नामक मासिक-पत्रिका का सम्पादन करने लगे। इसमें छपने के लिये जो निर्जीव और नीरस लघु उपन्यास आते थे, वे उनके सम्पादन से तरंगित हो उठते थे। इन दोनों पत्रिकाओं से अवकाश निकालकर उस समय उन्होंने वहाँ **'मौजी', 'गोलमाल', 'समन्वय'** आदि कुछेक और छोटी-बड़ी पत्रिकाओं में भी सम्पादन-सहायोग किया।

उसके बाद सन् 1926 ई॰ के प्रारम्भ में वे लहेरियासराय (दरभंगा) के पुस्तक-भंडार की साहित्यिक-पुस्तकों एवं उसके द्वारा प्रकाशित लोकप्रिय बाल-पत्रिका **'बालक'** (मासिक) का सम्पादन करने और ज्ञान मंडल प्रेस में उसका मुद्रण करवाने के लिये काशी चले आये। इस बीच, श्रीभारतधर्म-महामंडल काशी के तत्त्वावधान में प्रकाशित त्रैमासिक आर्य-महिला के सम्पादक पं॰ राम गोविन्द त्रिवेदी के आग्रह पर, मासिक 'गंगा' के सम्पादन के लिये, उन्हें सुलतानगंज (भागलपुर) चला जाना पड़ा। कुछ ही समय में, आचार्य जी द्वारा सम्पादित **'गंगा'** की गणना हिन्दी की श्रेष्ठ पत्रिकाओं में होने लगी। सन् 1930 ई॰ में जब उसका प्रथमांक निकला। और फिर मात्र छह मास के भीतर ही, उसका एक विशेषांक **'गंगांक'** प्रकाशित हुआ, जिसका हिन्दी-संसार में आशातीत स्वागत हुआ। इस विशेषांक के लिये आचार्य जी ने जी-तोड़ मिहनत की थी और इसके माध्यम से उन्होंने पुराने ख्यातिलब्ध विद्वानों के साथ, अनेक नये लेखकों को भी प्रकाश में लाने का महत्कार्य किया। लगभग एक वर्ष तक सुलतानगंज में रहने के बाद, वे पुनः काशी चले आये। वहाँ कुछ महीनों तक उन्होंने 'पुस्तक-मंदिर' से प्रकाशित पाक्षिक **'जागरण'** का सम्पादन किया। बाद में जब प्रेमचन्दजी के सम्पादन में साप्ताहिक के रूप में, वहाँ के 'सरस्वती-प्रेस' से उसका प्रकाशन होने लगा, तब आचार्य जी वहीं फिर से 'पुस्तक-भंडार' का काम करने लगे। उसके बाद, सन् 1933 ई॰ के उत्तरार्द्ध में, **'बालक'** का सम्पादन करने के लिये उन्हें दुबारा लहेरियासराय, दरभंगा चला आना पड़ा।

सन् 1945 ई॰ से, वे 'पुस्तक-भंडार' से ही प्रकाशित, अपने समय के सर्वाधिक सुसम्पादित साहित्यिक मासिक 'हिमालय' के सम्पादन में लग गये। विज्ञ पाठकों ने पठनीय सामग्रियों से आकंठ भरी आद्यन्त कसावट और स्खलनरहित भावनीति वाली इस पत्रिका को भी तुरत सर आँखों पर बिठा लिया।

इस लोकप्रिय पत्रिका **'हिमयुग'** के सम्पादन के साथ, वे छपरा के 'राजेन्द्र-कॉलेज' में प्राध्यापकी भी करते रहे। फिर सन् 1950 से अपने जीवन के अंतिम दिनों तक उन्होंने पटना के बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साहित्य-शोध- समीक्षा-प्रधान त्रैमासिक मुखपत्र **'साहित्य'** का सम्पादन किया। कहना न होगा कि इस त्रैमासिक ने भी हिन्दी-जगत् में जो प्रतिष्ठा अर्जित की वह कम ही साहित्यिक-पत्रिकाओं को नसीब होगी। इसमें आचार्यजी द्वारा हिन्दी-संबंधी हर छोटी-बड़ी घटनाओं पर लिखी टिप्पणियों ने भी देशभर के हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट किया। उनके द्वारा सम्पादित **'साहित्य'** के **'नलिन-स्मृति-विशेषांक'** (1962) को देखकर तो उनकी श्रमसाध्य सम्पादन-शैली पर सचमुच आश्चर्य होने लगता है।

आचार्य शिवजी के समकालीन उन्हें 'कठोर-कर्मा' कहा कहते थे। अपने सम्पादन कार्यों के लिये वे अक्सर प्रातः नौ बजे से रात के एक बजे तक लगातार खटते थे। अस्वस्थता की हालत में भी, उनके खटने का यही सिलसिला जारी रहता था।

सम्पादन-कार्य में निश्चय ही वे अपने पूर्ववर्ती और समकालीन सम्पादकों से सर्वथा भिन्न और श्रेष्ठ थे। सच पूछिए तो सम्पूर्ण हिन्दी-संसार में उनके जैसा दक्ष और पटु सम्पादक न उनके पहले कोई था ओर न उनके बाद अभी तक भी कोई हुआ। उनके समक्ष-प्रकाशन के लिये जो भी सामग्री आती थी, उसकी एक-एक पंक्ति को वे बड़े ध्यान से जरूर पढ़ते थे और, उसमें यदि कहीं भी

उन्हें कुछ खटकता तो उसके लेखक की मौलिकता की रक्षा करते हुए, काटकर उसे अपनी भाषा में लिखकर वहाँ जोड़ देते थे। उनकी इस सतर्क-सम्पादन कला से सर्वसामान्य लेख भी विशिष्ट बन जाते थे। बड़े-से-बड़े लेखकों की कृतियों को भी, जरूरत पड़ने पर रंगकर छोड़ देते थे। उनके लेखों में भी शब्दों और वाक्यों का मनोनुकूल हेरफेर करने में, अपने 'सम्पादकीय-अधिकार' का सदुपयोग करेन में जरा भी नहीं हिचकते थे। प्रूफ देखने का काम भी 'प्रूफ-रीडरों' पर नहीं छोड़ते थे। उसमें भी, संशोधनों की झड़ी लगा देते थे। लेकिन, वैसी नहीं कि जिससे प्रेस को किसी प्रकार की असुविधा हो। प्रेस की असुविधा का वे हमेशा ख्याल रखते थे। उनके सहयोगियों का कहना है कि पत्रिकाओं के सम्पादन-कार्य के लिये वे तीन-चार महीना आगे का 'मैटर' तैयार रखते थे और प्रेस को महीने-महीने 'पैकेट' दे देते थे। इसीलिये प्रेसवालों को कभी भी 'मैटर' की कमी नहीं होती थी।

'आर्य-महिला' के सम्पादक पं॰ श्रीरामगोविन्द त्रिवेदी का कहना है कि 'शिवजी लेखों का सम्पादन बड़ी सतर्कता से करते थे। किसी लेख के खटकनेवाले शब्दों और वाक्यांशों अथवा वाक्यों को हटाकर नये अनूठे और प्रभावशाली शब्दों, वाक्यांशों अथवा वाक्यों को रखकर लेख में नगीना जड़ देते थे। किसी लेख के अनगढ़ और लँगड़े पैराग्राफ को काटकर और उस स्थान पर चमत्कारपूर्ण पैरा जोड़कर लेख को मणिमाणिक्य समन्वित कर देते थे। किसी-किसी लेख का तो कलेवर तक बदलकर, उसे ऐसी जानदार और शानदार भाषा में लिख डालते थे कि तबीयत फड़क उठती थी। किसी-किसी के लेख का पुनर्लेखन करके उसे अपनी सिद्धहस्त लेखनी और टकसाली-भाषा की अभिरामता और रमणीयता से समलंकृत कर देते थे। क्या मजाल कि किसी लेख में अक्षर-मात्रा अथवा विन्दु-विसर्ग की त्रुटि व अशुद्धि रह जाय। **'वस्तुतः शिवजी को सम्पादन-कला पर कमाल हासिल था। उनके समान सजग सतत सावधान, निरन्तर सतर्क और प्रतिभाशाली पत्रिका सम्पादक हिन्दी-जगत् ने नहीं देखा।**

आज की पत्र-पत्रिकाओं की भाषा-भ्रष्टता और सम्पादक-मंडलों की निष्क्रियता के प्रति वे सदाक्षोभ प्रकट करते थे और कहा करते थे कि आज के सम्पादक सम्पूर्ण रूप से अपने दायित्व का निर्वाह नहीं करते और उनमें सम्पादन-विधा और हिन्दी के प्रति समर्पण-भाव का भी सर्वथा अभाव है।

पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन के साथ-साथ, आचार्य शिवजी असंख्य छोटी-बड़ी पुस्तकों की पांडुलिपियों का भाषा-संस्कार और सम्पादन भी करते रहे। आरा में रहते हुए, उन्होंने गुलाब राय लिखित **'नवरस'** के दोनों संस्करणों सहित **'प्रेमकली', 'प्रेम-पुष्पांजलि', 'त्रिवेणी, 'धरकट-सूम'** आदि पुस्तकों का सम्पादन किया। इसके बाद, कलकत्ता और काशी में रहते, उन्होंने 'पुस्तक-भंडार' से प्रकाशित पाठय-पुस्तकों के साथ-साथ अनेकानेक साहित्यिक-पुस्तकों का भाषा-परिष्कार और सम्पादन किया। इन साहित्यिक-पुस्तकों के लेखकों में प्रमुख थे प्रसाद, वियोगी, बेनीपुरी, दिनकर, नेपाली, लक्ष्मीनारायण मिश्र, कलक्टर सिंह केसरी, रामनाथ सुमन, मनोरंजन, केसरी कुमार, नागार्जुन, मुक्त, नालिन विलोचन शर्मा, आरसी प्रसाद सिंह आदि आदि कितनों के नाम गिनाये जायँ? संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि उस समय कम-से-कम बिहार का शायद ही कोई ऐसा प्रमुख लेखक या कवि होगा, जिसकी रचना आचार्य शिवजी की सम्पादकीय-नजर से न गुजरी हो।

उस समय, 'पुस्तक-भंडार' के तत्त्वावधान में ही, देशरत्न डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद के लिये, रामगढ़-कांग्रेस के अवसर पर प्रसिद्ध इतिहासकार पं॰ जयचंद विद्यालंकार के निर्देशन में, राजस्थान के पृथ्वी सिंह मेहता लिखित 410 पृष्ठों वाली पुस्तक **'बिहारः एक इतिहासकार दिग्दर्शन'** (1940) को शुद्ध और स्वच्छ कलेवर में, मात्र दस दिनों के अन्तराल में, सम्पादित कर काशी के लक्ष्मीनारायण-प्रेस से छपवा देना, आचार्य शिवजी के वश की ही बात थी।

इन सारे प्रकाशनों के अतिरिक्त, उन्होंने प्रेमचन्द की 'रंगभूमि' का भी सम्पादन किया। कहते हैं, दुलारेलाल जी भार्गव के बुलावे पर सन् 1924 ई॰ में, **'माधुरी'** के सम्पादन के संदर्भ में जब आचार्यजी लखनऊ गये थे, तभी दुलारे लाल जी ने उन्हें 'रंगभूमि' की पांडुलिपि संशोधनार्थ दी थी। उसके पश्चात् प्रयाग में रहकर उन्हें देशरत्न डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद जी की बहुचर्चित **'आत्मकथा'** (1947) की पांडुलिपि का भाषा-संशोधन करने का भी गौरव प्राप्त हुआ।

बिहार के कथा-शैलीकार राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह भी अपनी कृतियों और अपने पिताश्री राजराजेश्वरी जी की ग्रंथावली (1937) के संदर्भ में, आचार्य शिवजी का एहसान मानते थे और, रज़ाइमाम नक़वी लिखित तथा बिहार-हिन्दी साहित्य-सम्मेलन से

प्रकाशित 'उर्दू-शायरी और बिहार' का भाषा-संस्कार और सम्पादन तो उन्होंने तब किया, जब मोतियाबिन्द के कारण, उनकी दोनों आँखें खराब हो चुकी थीं।

उनके समकालीन सुप्रसिद्ध हिन्दी-सेवी पं॰ शान्ति प्रसाद द्विवेदी ने एक स्थान पर लिखा है कि हिन्दी के अनेक प्रसिद्ध लेखकों की पाँडुलिपियाँ मैंने देखी हैं और देखी हैं उनमें शिवपूजनजी की कलम की कारीगरी। वे अपने प्राणवंत तारुण्य से उनमें रूप रंग और रस भर देते थे। उनकी लेखनी से हृदय का स्पर्श पाकर गहन-से-गहन और शुष्क-से-शुष्क विषय भी सरस हो जाते थे।'

काशी में, प्रसादजी की मंडली में, वहाँ के प्रायः सभी साहित्य-महारथी शामिल थे। प्रेमचंद, राय कृष्ण दास और विनोद शंकर व्यास जो उसमें नियमित जुटनेवाले व्यक्तियों में थे। व्यास जी लिखते हैं कि 'हमलोगों की मंडली में शिवजी का सम्मान विशेषरूप से था। पुस्तकों के प्रकाशन ओर सम्पादन का कार्य वे ही करते थे। इसलिये मेरी और प्रसाद जी की लिखी अधिकांश रचनाओं से वे पूर्णतया परिचित थे। उनका निर्णय ही अंतिम समझा जाता था। प्रसाद जी जब कुछ नई रचना प्रस्तुत करते, तो शिवपूजन जी को सुनाए और उनका परामर्श लिये बिना उन्हें संतोष नहीं होता था।'

अब, प्रसाद जी की कुछेक रचनाओं के विषय में भी, जिन विद्वानों को शंका हो, वे उनके निकट के इन दोनों सहयोगियों के वक्तव्य से अपना निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद' के 'संचालक' या 'निदेशक' के पद पर रहते हुए भी, वहाँ से प्रकाशित विविध शोध-ग्रंथों के भाषा-परिष्कार सहित उनका सम्पादन तो अपने-आप में विशेष महत्व रखता है। उनके संचालन काल में, परिषद् से विविध विषयक साठ-पैसठ ग्रंथ प्रकाशित होकर देश के विभिन्न सरकारी एवं गैर-सरकारी संस्थानों से पुरस्कृत हुए। इनमें कई ग्रंथ तो ऐसे थे, जिनके सम्पादन एवं भाषा-संस्कार या परिष्कार करने में आचार्य शिवजी को एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ा था। उनमें एक ग्रंथ था, खड़ी बोली के आदि-आन्दोलन बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री का स्मारक-ग्रंथ। ऐसे ग्रंथों में, सर्वश्री साँवलिया बिहारी लाल वर्मा लिखित **'सर्वधर्म समन्वय'** और दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह रचित 'भोजपुरी के कवि और काव्य' प्रमुख हैं। परिषद् के प्रकाशन-विभाग में सुरक्षित इस कोटि के ग्रंथों की पांडुलिपियों के अवलोकन से, इस दिशा में आचार्य शिवजी की साधक वृत्ति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। एक ओर सरकारी-नियमों के लाल फीते और दूसरी ओर उनकी सज्जनता से अनुचित लाभ उठाने वाले अवसरवादी साहित्यकारों की जमात। इन दोनों के बीच बहुत थोड़े ही दिनों में उन्होंने परिषद् का साहित्यिक और भाषिक धरातल इतना ऊँचा उठा दिया कि हिन्दी-संसार आश्चर्यचकित होकर रह गया।

परिषद से प्रकाशित 'हिन्दी-साहित्य और बिहार' के प्रथम दो खण्डों के सम्पादन के सिलसिले में, मुझे स्वयं उनके सम्पादन-निर्देशों को निकट-से परखने का अवसर मिला घोर अस्वस्थता के बावजूद इस ग्रंथमाला के द्वितीय खण्ड का सम्पादन करते हुए, सन् 1963 की 15 जनवरी तक उनकी कलम चली और 20 जनवरी के अहले सुबह तीन बजकर पाँच-मिनट पर उनके प्राण-पखेरू उड़ गये।

पं॰ बनारसी प्रसाद चतुर्वेदी के अनुसार, हिन्दी में 'अभिनन्दन-ग्रंथ' भेंट करने की परम्परा आचार्य शिवजी ने ही चलाई थी। 'आरा-नागरी-प्रचारिणी-सभा' द्वारा श्रीअयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' को दिया जाने वाला **हरिऔध अभिनन्दन-ग्रंथ** और डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद जी को दिया जाने वाला **'राजेन्द्र अभिनन्दन-ग्रंथ'** तो उनके द्वारा सम्पादित किये ही गये, सन् 1933 ई॰ मे नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी की ओर से पं॰ महावीर प्रसाद द्विवेदी को जो अभिनन्दन-ग्रंथ दिया गया, उसके सम्पादक भी आचार्य शिवजी ही थे। उस समय काशी में अनेक प्रकांड लेखक एवं सम्पादक थे, किन्तु इस कार्य के लिए उन सबों में, उन्हीं का चुना जाना सचमुच उनकी अपूर्व सम्पादन-कलाकारी एक जीता-जागता प्रमाण है। इसी प्रकार, सन् 1942 ई॰ में 'पुस्तक-भंडार' के स्वामी, रामलोचन शरणजी को जो विशाल एवं वृहत्काय अभिनन्दन-ग्रंथ' **(जयन्ती-स्मारक-अभिनन्दन-ग्रंथ)** भेंट किया गया, वह भी आचार्य शिवजी के सम्पादन में ही प्रकाशित हुआ था। यह अभिनन्दन-ग्रंथ तत्कालीन बिहार का एक महान् और पूर्ण साहित्यिक-कोश ही है। इन दोनों अभिनन्दन-ग्रंथों के लिये उन्हें कितना परिश्रम करना पड़ा और अपनी किस योग्यता से उन्होंने उन्हें सुधारा-सँवारा और सजाया, यह क्रमशः प्रयाग के 'भारत-कला-भवन' एवं पटना के 'पुस्तक-भंडार' में रखी पाँडुलिपियों से ही स्पष्ट हो जाता है।

अपने जीवन के अंतिम दिनों में उन्हें जय प्रकाशजी के निर्देशानुसार, पटना की 'महिला-चर्खा-समिति' की ओर से राजेन्द्र बाबू को दिये जाने वाले दूसरे अभिनन्दन-ग्रंथ-'**बिहार की महिलाएँ**' (1962) का सम्पादन करना पड़ा। सरकारी-सेवा से अवकाश प्राप्ति

के बाद, यह कार्य उन्होंने परिषद् में ही मेरी टेबुल पर सम्पन्न किया। उम्र अधिक हो जाने पर भी, इस ग्रंथ के सम्पादन में उनका श्रम देखने लायक था।

ठेठ या खाँटी एक भोजपुरी-ग्राम (उनवाँस भोजपुर, बिहार) के निवासी आचार्य जी का भोजपुरी-संस्कृति के साथ, भोजपुरी-भाषा से ही असीम प्रेम था। भोजपुरी को 'हिन्दी की बेटी' माननेवाले सहाय जी भोजपुरी का झंडा लेकर सन् 1948 में सामने आये। उस वर्ष सीवान में आयोजित 'प्रथम भोजपुरी-सम्मेलन' के बीच से उस भाषा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए, उन्होंने अपने तत्संबंधी भाषा-नीतिगत जो भाषण दिया, वही आगे चलकर भोजपुरी-आन्दोलन का संबल बना। उसके बाद भी, उन्होंने भोजपुरी-साहित्य-सम्मेलनों में जाने का सिलसिला जारी रखा। सन् 1952 में जब आरा के भोजपुरी साधक बाबू रघुवंश नारायण सिंह ने एक भोजपुरी-पत्रिका- 'भोजपुरी' का प्रकाशन किया, तब उसके सम्पादक-मंडल में रहते हुए, उसमें वे अक्सर लिखते रहे। आगे चलकर सन् 1954 में, उन्होंने भोजपुरी के सुपरिचित लेखक पाण्डेय श्रीनर्मदेश्वर सहाय एवं उस भाषा के एक दूसरे समर्पित लेखक श्री अविनाश चन्द्र विद्यार्थी को पटना में एक 'भोजपुरी-परिवार' के गठन की प्रेरणा दी और उसके संविधान के प्रारूप, उसके उद्देश्य आदि सबकुछ उन्होंने ने ही तैयार किया। उसकी बैठकों में सदा उपस्थित रखकर वे उसका मार्गदर्शन करते रहे। उन्हीं के निर्देशन पर उस परिवार की ओर से एक भोजपुरी-मासिक **'अँजोर'** का प्रकाशन भी हुआ। उस पत्रिका में भी वे बराबर लिखते रहे। उसी के पहले अंक में प्रकाशित उनकी भोजपुरी कहानी **'कुंदन सिंह केसरबाई'** छपी, जिसे भाषागत सौन्दर्यादि के कारण, भोजपुरी कथा-साहित्य का आदर्श माना गया। आचार्य जी ने भोजपुरी में भी एक आंचलिक उपन्यास **'हमार गाँव'** लिखने की योजना बनाई थी, जो किंचित् कारणवश पूरी न हो सकी। भोजपुरी भाषा के विकास ओर उसके साहित्य-संवर्द्धन के लिये जब भोजपुरी के एक दसूरे समर्पित विद्वान् पाण्डेय कपिल ने 'अखिल भारतीय भोजपुरी साहित्य-सम्मेलन' की स्थापना की तब उन्हें भी आचार्य शिवजी का भरपूर सहयोग और मार्गदर्शन मिला तथा उस सम्मेलन के तत्वावधान में प्रकाशित पत्रिका में भी वे लिखते रहे।

भोजपुरी-संस्कृति एवं उसके भाषा-साहित्य के विकास के लिये उनके मन में बहुत बड़ा सपना था। वे बराबर कहा करते थे कि इस भाषा में जो शक्ति एवं सम्पन्नता है, वह हिन्दी से जुड़ी दूसरी भाषाओं में नहीं है। 'भोजपुरी-परिवार' से प्रकाशित उसकी लोकप्रिय-पत्रिका में, अपने द्वारा लिखित एक सम्पादकीय के माध्यम से, संभवतः पहली बार भोजपुरी में फिल्म-निर्माण संबंधी संभावना व्यक्त करते हुए, बम्बई के सुपरिचित फिल्म-निर्देशित भाई जगमोहन भट्ट के सहयोग से जब मैंने बिहार में भोजपुरी-फिल्म-उद्योग विकसित करने के उद्देश्य से सन् 1961-62 में 'रीजनल फिल्म-फोरम' की स्थापना की, तब तो उनकी खुशी का ठिकाना न था। फिल्मों के द्वारा भाषा-प्रचार के महत्त्व से भी वे भली-भाँति परिचित थे। और जब आज के पूर्णरूप से विकसित भोजपुरी फिल्म-उद्योग के पिता भाई नजीर हुसैन ने उस समय 'गंगा मैया' बनाकर सबको यह दिखा दिया कि हिन्दी, बँगला और अन्यान्य विकसित क्षेत्रीय भाषाओं की तरह अपनी भोजपुरी भाषा में भी स्तरीय फिल्में बन सकती हैं, और उसके जरिए इस भाषा एवं संस्कृति का व्यापक प्रचार हो सकता है, तब तो उनकी खुशी का ठिकाना ही न था। शायद उसी उछाह में उन्होंने उस समय अपनी सुप्रसिद्ध हिन्दी-कहानी **'कहानी का प्लाट'** पर 'भगजोगनी' नाम से 'भोजपुरी फिल्म बनाने की स्वीकृति हमारे 'फोरम' को दे दी थी।

आचार्य शिवजी के अंतिम दिनों में, भागलपुर विश्वविद्यालय ने उन्हें मानद डी॰लिट॰ की उपाधि दी और भारत-सरकार ने उन्हें 'पद्मभूषण' के अलंकरण से अलंकृत किया। भारतीय डाक-विभाग ने भी उनके नाम पर 'स्टाम्प' चलाये। किन्तु आश्चर्य के साथ दुख की बात है कि ऐसे सर्वमान्य शीर्षस्थ सम्पादकाचार्य, भाषा-शिल्पी एवं हिन्दी-सेवी की स्मृति रक्षा के लिये अपनी बिहार-सरकार तथा यहाँ के हिन्दी प्रेमियों की ओर से अबतक कुछ योग्य प्रयास नहीं हुआ। उनके ग्राम में उनके नाम पर आज कुछ भी नहीं है। खंडहरनुमा हो चुके उनके घर की सुध लेने वाला भी कोई नहीं है। उनके कनिष्ठ पुत्र डॉ॰ मंगलमूर्ति के प्रयास से संचालित 'ट्रस्ट' ने भी उनकी 'डायरी' एवं 'पत्रावली' के प्रकाशन के अतिरिक्त उनकी स्मृति-रक्षा की दिशा में अबतक संभवतः और कुछ ठोस कार्य नहीं किया।

ऐसी स्थिति में, अपनी बिहार-सरकार, बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' एवं बिहार के हिन्दी-प्रेमियों का यह दायित्व है कि वे इस दिशा में कुछ सार्थक पहल करें।

420 रेन्टल फ्लैट
कंकड़बाग, पटना-800020

❖●❖

शिवपूजन सहाय और काशी

– डॉ. मंगलमूर्त्ति

काशी की साहित्यिक परंपरा अत्यंत समृद्ध रही है। हिन्दी नव–जागरणकाल में काशी ही हिन्दी का केन्द्र रही। रामानंद, कबीर, रैदास, तुलसी से लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र शुक्ल और प्रेमचंद तक तथा उसके बाद भी आज तक काशी की एक सुदीर्घ अविच्छिन्न साहित्यिक परम्परा रही है। काशी एक धार्मिक तीर्थ ही नहीं साहित्यिक तीर्थ भी रहा है। हिन्दी–साहित्य का लगभग हर बड़ा–छोटा साहित्यकार कभी न कभी काशी से जुड़ा रहा है। इस परम्परा को समृद्ध बनाने में हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग का भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। अभी कुछ दिन पहले वहाँ राहुल सांकृत्यायन और शिवपूजन सहाय पर हिन्दी नव–जागरण के संदर्भ में एक अत्यंत सफल संगोष्ठी का आयोजन सम्पन्न हुआ था।

हिन्दी नव–जागरणकाल में काशी की साहित्यिक मंडली के एक सुपरिचित सदस्य शिवपूजन सहाय भी रहे हैं। अपनी आत्मकथा **'मेरा जीवन'** में उन्होंने लिखा है कि उनकी माता की पहली तीन संतानों के शैशवावस्था में मर जाने के बाद उनके गाँव के कुल–पुरोधा ने बाबा विश्वनाथ के यहाँ आकर बहुत पूजा–जाप किया था तब माता द्वारा एक परमहंस जी की विभूति का नियमित पान करने के बाद उनका जन्म हुआ था। परमहंसजी ने ही उनको शिवपूजन नाम दिया था।

शिवपूजन सहाय सबसे पहले मैट्रिक पास करने के बाद 1913 में काशी आये थे जब वे 30 वर्ष के थे। उनके एक संबंधी ने उनको बनारस कचहरी में हिन्दी–नकलनवीस की नौकरी दिलाई थी। उस वक्त वे अर्दली बाजार के पास खजूरी मुहल्ले में रहते थे। उसी समय से वे काशी नागरी प्रचारिणी सभा में आने–जाने लगे थे, और कचहरी के ही एक व्यक्ति ने उनका परिचय 'प्रसाद' जी से कराया था। शिवजी का यह प्रथम काशी प्रवास कुछ ही महीनों का रहा, क्योंकि उसके तुरत ही बाद उन्हें आरा में एक स्कूल में हिन्दी अध्यापक का पद मिल गया था। फिर भी काशी के साहित्य–मंडल से उनका सम्पर्क बना रहा, और धीरे–धीरे **'मारवाड़ी सुधार'** और **'मतवाला'** संपादक के रूप में हिन्दी–जगत् में उनकी ख्याति फैलने लगी थी। निरालाजी तो 'मतवाला' मंडल के सदस्य ही थे और कलकत्ते में शिवजी के साथ एक ही मकान में रहते थे, लेकिन प्रेमचंदजी से भी शिवजी की पहली भेंट कलकत्ते में ही हो चुकी थी। उसके कुछ ही दिन बाद 1924 में जब शिवजी लखनऊ की 'माधुरी' के सम्पादक–मंडल में शामिल हुए तब वहाँ प्रेमचंदजी भी 'माधुरी' सम्पादक के पद पर आ गये और वहीं रहते हुए शिवजी ने उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'रंगभूमि' और उनकी कुछ कहानियों का संपादन किया था। इस पूरी अवधि में शिवजी का संबंध काशी की साहित्यिक मंडली से बना रहा।

दूसरी बार जब 1926 में शिवजी अंतिम रूप से कलकत्ता छोड़कर काशी आये तब अगले लगभग एक दशक तक वे काशी में ही रहे। सबसे पहले वे **कालभैरव मंदिर** के निकट **दंडपाणि भैरव** के छोटे से मंदिर के ऊपर एक कमरे में रहते थे। उनकी पत्नी का इसी मकान में गंभीर रूप से अस्वस्थ रहते हुए उनके गाँव में निधन हुआ, और यहीं कालभैरव चौराहे के पास एक दूसरे मकान में रहते हुए शिवजी का तीसरा विवाह हुआ। उग्रजी ने एक अंतरंग संस्मरण में यहीं उनकी तीसरी पत्नी से अपने भेंट की चर्चा की है। वे जब शिवजी से मिलने गये तो उन्होंने सहज भाव से अपनी नवोढ़ा पत्नी की मुँह दिखाई का प्रस्ताव रख दिया। उग्र ने कहा– 'मैं ऐसा काम नहीं करता। मुझे कोई भी अपनी बीवी दिखाने की हिम्मत नहीं करता। यहाँ तक कि स्वर्गीय महादेवप्रसाद सेठ ने भी निरालाजी को अपनी बीवी के दर्शन कराये और उन पर कविता लिखाई; मगर जब निरालाजी की प्रतिद्वंद्विता में मैंने भी मजाकन उनकी स्त्री को देखना चाहा तब सेठ जी ने हँसकर मधुरता से 'नहीं' कर दिया उन महादेव प्रसाद सेठ ने जो अपनी बीवी की साड़ी रोककर मेरे लिए रेशमी जरी के दुपट्टे सोल्लास खरीदा करते थे।'

काशी के कई मुहल्लों में शिवजी का निवास रहा। कालभैरव इलाके में रहने से पहले वे तेलियाबाग के एक मकान में भी कुछ दिन रहे थे जहाँ मकान में जाते ही पहले ही दिन वे छज्जे से गिरे और उनकी दाईं एड़ी टूट गयी थी। कालभैरव चौराहे के पास एक और मकान में भी वे रहे थे। नागरी प्रचारिणी सभा बगल में थी और वहीं काशी की साहित्यिक मंडली का अखाड़ा था। यहीं रहते हुए उन्होंने इलाहाबाद जाकर **द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ** का संपादन किया था, किन्तु जब सभा में द्विवेदीजी का अभिनंदनोत्सव हो रहा था, वे चिंतामग्न पति–पत्नी शीतलाग्रस्त अपने बच्चे सिरहाने बैठे रहे जाने को विवश थे। द्विवेदी जी को जब मालूम हुआ, उन्होंने रायकृष्ण

दास और मैथिलीशरण गुप्त के हाथों एक पुर्जे पर दुर्गा सप्तशती का एक श्लोक लिखकर आशीर्वाद-स्वरूप भेजा था जो आजतक उनके संग्रह में है।

शिवजी का दूसरा साहित्यिक अखाड़ा था सुंघनी साव वाली प्रसाद जी की दुकान के सामने का पत्थर का तख्त। प्रेमचंदजी वाले संस्मरण में उन्होंने लिखा है- 'बनारस कोतवाली के पिछवाड़े नारियल बाजार में प्रसाद जी की लगभग सवा सौ वर्ष पुरानी दुकान है- जर्दा-सुरती-सुंघनी की। उसके सामने के तख्त पर प्रसाद जी की साहित्य-गोष्ठी जमती थी। उस समय हिन्दी संसार का कौन ऐसा साहित्य- महारथी था, जो उस तख्तपोश पर कुछ देर न बैठा हो।'

काशी में शिवजी रम गये थे। प्रेमचंद और प्रसाद के अलावा, आचार्य द्विवेदीजी, पराड़करजी, विनोदशंकर व्यास, महामना मालवीयजी आदि के अपने संस्मरणों में शिवजी ने काशी-प्रवास के उन सुखद दिनों की विस्तार से चर्चा की है। इन संस्मरणों में अनेक रोचक साहित्यिक प्रसंग हैं जिनसे सिद्ध होता है कि काशी के साथ शिवजी का आत्मिक संबंध था। जब 1930-31 में आर्थिक विवशता के कारण उनको साल-भर के लिए **'गंगा'** का संपादन करने काशी से सुलतानगंज, भागलपुर जाना पड़ा था, तो प्रसादजी को एक पत्र में उन्होंने लिखा था- 'काशी छूटने के बाद से ही मैं बराबर हैरानी-परेशानी उठाता आ रहा हूँ। कहीं भी अब मेरे चित्त को शांति नहीं मिलती। जहाँ कहीं रहा या रहता हूँ, काशी का मोह नहीं छूटा और न छूटता है या न आगे छूटेगा ही। काशी में फिर बसेरा लेने का संकल्प मन में जाग रहा है। मेरी इच्छा बार-बार वहीं आने की हो रही है, चाहे जो परिणाम हों। मुझे अभी तक विश्वनाथजी की दयालुता पर विश्वास है। अगर उनकी शरण में आने से कोई नाराज होकर मुँह की रोटी भी छीन लेगा तो मुझे दृढ़ विश्वास है कि विश्वनाथजी जैसे लाखों लोगों को चना-चबेना, गंगाजल देते हैं, वैसे ही मुझे जरूर देंगे।' और अंततः शिवजी सुलतानगंज छोड़कर काशी आ ही गये। यहाँ आने के बाद ही प्रसाद जी और विनोदशंकर व्यास के सहयोग से उनके संपादकत्व में पाक्षिक **'जागरण'** का प्रकाशन हुआ था जो कुछ महीनों बाद प्रेमचंद के संपादन में साप्ताहिक रूप में निकलने लगा। लेकिन शिवजी से काशी एक बार फिर अंतिम रूप से 1935 में छूटी जब वे पुनः आर्थिक विवशता के कारण ही सपरिवार पुस्तक भंडार, लहेरियासराय चले गये, 'बालक' के संपादक बनकर।

काशी से शिवजी का स्वाभाविक और गहरा रागात्मक संबंध था। काशी-प्रवास के उनके संस्मरणों को आज भी पढ़ने से लगता है कि काशी में सचमुच उन दिनों हिन्दी साहित्य की सुर-सरिता प्रवाहित होती थी, जिसमें अवगाहन से वंचित होने का दर्द उनके मन में बराबर बना रहा। शिवजी के ही शब्दों में- 'तेहि नो दिवसा गताः'।

एच-302ए, सेलेब्रिटी गार्डेन्स
सुशांत गोल्फ सिटी,
अंसल एपीआई, लखनऊ-226030
मो. 775922938

❖●❖

आपत्ति से बचने के लिए धन की रक्षा करें क्योंकि पता नहीं कब आपदा आ जाए। लक्ष्मी तो चंचल है। संचय किया गया धन कभी भी नष्ट हो सकता है।

- चाणक्य

आचार्य शिवपूजन सहाय के निबंधों में नारी-विमर्श

- डॉ. शिववंश पाण्डेय

आचार्य शिवपूजन सहाय भारतीय सनातन पद्धति के अनुयायी रहे थे। भारतीय सनातन-पद्धति में नारी को 'देवी' की महिमा से विभूषित किया जाता रहा है और वह सदा पूज्या बनी रही है। स्मृतिवाणी है- **यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:** अर्थात् जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवताओं का वास होता है अर्थात् वहाँ दैवी विभूतियाँ विद्यमान हो जाती हैं। मनुस्मृति (3-62) में कहा गया है-

'स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोच्यते।'

(नारी की प्रसन्नता से समग्र कुल प्रसन्न रहा करता है। इसके विपरीत यदि नारी अप्रसन्न रहे तो उस कुल में कोई प्रसन्न नहीं हो सकता।)

भारतीय वाङ्मय में 'लिंग' और 'वय' के स्थान पर 'गुण' को स्थान दिया गया है जिसे आचार्य सहाय ने अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। उनकी कहानियों ('मुंडमाल' आदि), उनके उपन्यास (देहाती दुनिया), उनके निबंध-संकलन (महिला महत्त्व) आदि में नारी-विमर्श के इस स्वरूप के दर्शन होते हैं।

नारियों के प्रति आचार्य सहाय का कैसा आदर भाव रहा है इसकी एक हल्की झलक देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी को महिला-चरखा-समिति द्वारा समर्पित ग्रंथ 'राजेन्द्र अभिनंदन ग्रन्थ' **(बिहार की महिलाएँ)** के सम्पादकीय निवेदन की इन पंक्तियों में देखी जा सकती है- **'समिति'** का भी मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ जिसने मेरे जीवन के अंतिम प्रहर में मुझसे ऐसी सात्विक सेवा करा ली; क्योंकि नारी-समाज की साहित्यिक सेवा की साध बहुत दिनों से मेरे मन में थी, जिसकी पूर्ति का माध्यम प्रभु ने समिति को बना दिया।'[1] हमारे प्राचीन ग्रन्थों में नारी-विमर्श के कई ऐसे प्रसंग और आख्यान उल्लिखित हैं जिनमें नारी-महत्त्व और आदर्श के विभिन्न रूप प्रत्यंकित हैं। आचार्य शिवपूजन सहाय ने 'महिला-महत्त्व' नामक अपने निबंध-संकलन[2] में महिलोपयोगी अपनी इतस्तत: प्रकाशित रचनाओं का संकलन किया है जिसमें केवल 'महिला की महत्ता के कारणों का उल्लेख भर नहीं है, प्राचीन शास्त्रों से प्रमाण देकर सिद्ध किया गया है कि नारी को महत्त्व देकर और नारी-पूजा के पुराने आदर्श को अपनाकर ही भारत का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है।'[3]

'महिला-महत्त्व' में संकलित महिलोपयोगी रचनाएँ हैं- 1. सती सीमान्तिनी सीता का चरित्रोत्कर्ष, 2. तुलसीदास तथा नारी जाति, 3. हिन्दू परिवार की महिला, 4. पति और पत्नी का परस्पर सद्भाव, 5. राधा, 6. जगत् और जीवन की ज्योत्सना-जाया, 7. परदेसी पति की पत्नी, 8. ग्रामीण स्त्रियों की दशा, 9. माँ की माया, 10. विद्या पढ़ना सीखो, 11. सदा प्रसन्न रहो, 12. परदा-प्रणाली, 13. विधवा-विवाह समस्या, 14. विभूतियाँ।

'महिला महत्त्व' में अन्तर्विष्ट उल्लिखित रचनाओं में आचार्य जी ने 'भारतीय नारी के भव्य और उज्ज्वल आदर्श, उनकी समस्याओं, उनकी हीनता-दीनता, विधवा-विवाह, परदा-प्रथा, ग्रामीण स्त्रियों की दशा, हिन्दू-परिवार की महिला की दयनीय अवस्था पर गंभीरता से विचार किया है, तो दूसरी ओर माँ की विराटता का गायन भी, उनकी प्रसन्नता, विद्या, शिक्षा-दीक्षा का प्रयास भी। दाम्पत्य-जीवन में सुख-सौमनस्य के फूल झड़ते रहें, इसके उपाय भी बताए हैं। सर्वोपरि है नारी जागरण के लिए उनकी अनवरत चेष्टा। इसके लिए वेद, शास्त्र, पुराण, पाखंड को भले ही उन्हें आड़े हाथों लेना पड़े पर नारी की मर्यादा अक्षुण्ण रहे, उनका आदर्श कहीं स्खलित न हो- यह संकल्प सर्वत्र देखा जाता है।'[4]

आचार्य जी ने अपने नारी-विषयक विचारों में कहीं भी धार्मिक रूढ़िवादिता का आश्रय नहीं लिया है। नारी स्वस्थ समाज की आधारशिला है और उसकी सुख-शान्ति में ही समाज की सुख-शान्ति बसती है, इस अवधारणा को केन्द्रस्थ कर ही आचार्य सहाय ने अपनी नारी-विमर्श विषयक-रचनाओं में नारी के विविध रूपों का विवेचन किया है। दो ऐसे उदाहरण निदर्शनार्थ प्रस्तुत हैं।

(क) 'रामचरितमानस' के सुंदरकाण्ड[5] में प्रस्तुत गोस्वामी तुलसीदास की यह चौपाई कई कारणों से विवाद का कारण बनी हुई है और इसे शूद्र और नारी जाति के चरित्र पर भयंकर आक्षेप माना गया है पर आचार्य इसका निर्वचन जिस ढंग से करते हैं उससे नारी

जाति के प्रति उनकी उदात्त सोच का परिचय मिलता है। आचार्य सहाय जी तुलसीदास की नारी विषयक् ऐसी नकारात्मक टिप्पणी का विरोध कर नारी-मर्यादा की पूर्व से चली आ रही परम्परा की रक्षा करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने नारी को 'ताड़नाधिकारी' ही नहीं कहा उसे 'कुवासना की पिटारी', 'कामाग्नि की धृताहुति', 'ज्ञानदुर्ग ढहाने के लिए बड़ी-बड़ी तोपें', भी कहा। आचार्य जी का इस संबंध में मत है- 'आदर्श महापुरुष भगवान रामचन्द्र ने नारी-निन्दा इसलिए की है कि फिर कभी नारद जी सरीखे भजनानन्दी का मन उस ओर भूलकर भी न जाय।'[6] दूसरा तर्क यह है कि जो नारी जैसी है, उसका वैसा वर्णन है। समाज को सुव्यवस्था और शांति देने वाली नारी आदरणीया हैं, तो मंथरा, शूर्पणखा, ताड़का और पूतना तिरस्करणीया हैं। जिस प्रकार तुलसी संत-असंत की वंदना करते हैं, उसी प्रकार नारी-कुनारी पर भी विचार करते हैं। संसार जड़चेतन, गुण-दोष का संघात है। मानस के अरण्यकाण्ड में सती-असती का भेद स्पष्ट है। 'यथास्थान पार्वती और सीता की पतिभक्ति की महिमा दिखाई गई है, फिर भी नारी के प्रति उनके व्यक्त विचार अवांछनीय हैं।'[7]

गोस्वामी तुलसीदास का पत्नी रत्नावली के विषय में कुछ कहने के पूर्व आचार्य सहाय जी के शब्दों में उन्हें 'सोचना चाहिए था कि नारी के उपदेश से ही वे रामभक्त हो सके थे, अतः उनका उपकार मानना उचित है.... यदि उनकी पत्नी उनका तिरस्कार करके उन्हें सन्मार्ग नहीं सुझाती तो वे जंगल में तुलसी की तरह कहीं फूलते तो कहीं झर जाते। उनके हृदय में जो लौकिक प्रेम की कर्मनाशा बहती थी, उसे उनकी पत्नी ने ही ईश्वरी प्रेम की गंगा में मिला दिया। इसके लिए नारी को कृतज्ञता के बदले उपेक्षा मिली। यही चिन्त्य है।'8

सुन्दरकाण्ड की उपर्युक्त चौपाई में स्त्रियों को 'ताड़नाधिकारी' कहने के अनौचित्य पर विचार करते हुए आचार्य सहाय लिखते हैं- 'समझ में नहीं आता कि गवाँर (मूर्ख), शूद्र और पशु की श्रेणी में स्त्रियाँ क्यों रखी गयीं? क्या मूर्ख का कुछ महत्त्व नहीं? मूर्ख बिना हास्य रस का आलंबन कौन बनता? मूर्ख न होते तो प्रवीणों को कौन पूछता? शूद्र क्या लताड़ने ही लायक हैं?..... यदि स्त्रियाँ ताड़ने के योग्य हैं तो लालन के योग्य या पात्र कौन हैं? तब तो उनका नाम 'ललना' से बदलकर 'ताड़ना' कर देना चाहिए।'[9]

(ख) **'ग्रामीण स्त्रियों की दशा'**[10] **'परदा प्रणाली'**,[11] **'विधवा विवाह-समस्या'**,[12] **'हिन्दू परिवार की महिला'**[13] आदि निबंधों में सहाय जी ने महिला-विमर्श से संबंधित विभिन्न समस्याओं के समाधान के उस समय जो उपाय सुझाए थे वे आज भी प्रासंगिक और अनुकरणीय हैं। उन्होंने आज से 60-70 वर्ष पूर्व विधवा-विवाह की वकालत की है जब विधवा-विवाह की चर्चा मात्र से समाज के लोग बहिष्कृत कर दिए जाते थे। यह उनकी प्रगतिशीलता और समाजसापेक्षता का ज्वलंत प्रमाण है। वे लिखते हैं- 'मैं यह कहने वाला होता कौन हूँ जो विधवाएँ दुखी देखी जायँ, उन सबकी इच्छा के अनुसार उनका भाग्य-निर्णय अथवा विवाह अवश्य ही कर दिया जाए। पर इतना तो निश्चित ही कहूँगा कि उनकी दशा सुधारने के लिए यदि समाज के शासक (शास्त्रज्ञ पंडितजन) कोई उपाय न करेंगे, तो अनतिदूर भविष्य में शास्त्र-मर्यादा का भंग होना ध्रुव है। यह नारी महत्ता पर सहानुभूतिपूर्वक विचार है, तो उसके उत्थान का विनम्र प्रयास भी।'[14]

विधवा-विवाह जैसी ज्वलंत समस्या के साथ-साथ आचार्य सहाय ने नारी विषयक् तत्सम दो अन्य चिन्त्य समस्याओं- **'परदा प्रणाली'** तथा **'ग्रामीण स्त्रियों की दशा'** (दुर्दशा) पर भी वज्राघात किया है। सहाय जी ने इतिहास, पुराण के पन्नों को उलटते हुए सिद्ध कर दिया है कि परदा-प्रथा न तो रामायण-महाभारत काल में थी न अति प्राचीन वैदिक काल में। यह तो मुगलशासकों के दौरान मुगलिया सभ्यता और आतंक की देन थी। उनका निष्कर्ष है- 'अतः यह स्पष्ट है कि न रामायण काल में, न महाभारत काल में ही परदा प्रथा का प्रचलन था। पुराण में भी इसका प्रमाण नहीं है। यवन शासनकाल में यह कुप्रभा भारत में आई जिससे नारी जाति का बड़ा अहित हुआ।'[15]

पुरुष रहते हुए भी आचार्य जी स्त्रियों की दुर्दशा के लिए पुरुषों को अधिक जिम्मेदार मानते हैं। उनके अनुसार 'पुरुष नारी-प्रगति में बड़ी बाधा हैं। वे नहीं चाहते कि सुधार के आंदोलन की हवा इनके घरों में पहुँचे। शिवपूजन जी का विचार है-

(क) आदर्श स्त्री-शिक्षा के लिए प्रतिबद्ध संस्थाएँ ग्रामीण स्त्रियों का कल्याण करें;

(ख) शिक्षिता, आधुनिक समाज-सेविका महिला गाँवों में जाकर उन्हें स्वच्छंदता, उच्छृंखलता, स्वयंवर, तलाक की शिक्षा न देकर उन्हें सुशिक्षित होने तथा सेवा, प्रेम का सुन्दर संदेश देने के लिए प्रेरित करें। उन्हें ऐसी मीठी सलाह दी जाए, जिससे वे अपने घर,

परिवार को सुव्यवस्थित और सुखशान्तिपूर्ण बना सकें, घरेलू जीवन को आनंदमय बना सकें, अपने गृहप्रबंध कौशल से सामाजिक जीवन में सुविधा एवं सुंदरता ला सकें। स्त्रियों की उपेक्षा न हो, पुरुष वर्ग स्वयं उनका ध्यान रखें।'[16]

आचार्य सहाय जी के विचार से स्त्रियों के उत्थान के दो बड़े रामवाण नुस्खे हैं- विद्या एवं प्रसन्नता। 'विद्या पढ़ना' शीर्षक लेख में उन्होंने नारी की शिक्षा-दीक्षा पर बल दिया है। सहाय जी के अनुसार विद्या पढ़ने का सर्वोत्तम फल है- 'हृदय के भावों की स्वच्छता और सरलता, आचरण का निर्दोषित होना और वाणी की मधुरता, स्वभाव की नम्रता, विचार की उदारता, परदुखकातरता, धैर्य, ईश्वर में विश्वास, बड़ों में पूज्य बुद्धि, छोटों के प्रति स्नेह, सच्चाई के मार्ग पर जो कुछ मिले, उससे संतोष, दूसरे के उत्कर्ष से ईर्ष्या नहीं प्रसन्नता हो।'[17]

आचार्य जी ने महिलाओं को परामर्श दिया है कि 'विद्या पढ़ने का सबसे बड़ा लाभ तुम्हें यह होगा कि तुम स्वावलंबी बन जाओगी, तुम्हारी पराधीनता दूर हो जाएगी, तुमको किसी का मुँह न जोहना पड़ेगा। विद्या पढ़ने से तुम्हारे ख्वाबों की रक्षा हो सकेगी। समाज में तुम्हारी साख और धाक बढ़ाने वाली शिक्षा ही है।'[18]

पति-पत्नी के पारस्परिक सद्भाव ही एक सुखी परिवार की आधारशिला है। आज इस पवित्र रिश्ते में जो दरार पैदा हो रही है उससे ही परिवार का सुखी-सम्पन्न जीवन विखंडित हो रहा है। आचार्य सहाय चाहते हैं कि स्त्री-पुरुष में पारस्परिक अनुराग बना रहे। पति-पत्नी में शारीरिक भेद भले हो पर मन, आत्मा से दोनों एक हैं। दोनों में अभेद और तादात्म्य है। दो निष्कपट हृदय मिलें, हृदय के सहभाव मिलें, पारस्परिक विश्वास हो, प्रेम का आदान-प्रदान हो- वहाँ दोनों का जीवन मंगलमय रहेगा। एक अपने कर्त्तव्य के लिए सचेष्ट है, दूसरा उसे अधिकार देने को प्रतिबद्ध। परस्पर प्रसन्न, सुखी करने के लिए दोनों संकल्पित हैं।'19

नारी को सर्वोत्तम रूप 'माँ' का है जिसके बारे में कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है-

'आते ही उपकार याद है, माता, तेरा,
हो जाता मनमुग्ध भक्ति-भावों का प्रेरा।

तू पूजा के योग्य, कीर्ति तेरी हम गावें,
मन तो होता तुझे उठाकर शीश चढ़ावें।'

'माँ की माया' नामक लेखक में जो 'मातृ महिमा', 'मातृस्नेह' और 'माँ की माया' तीनों लेखों के उत्तमांश का एकीकृत रूप है। इनमें प्रथम दो लेख क्रमशः 1921 और 1925 में छपे थे। आचार्य जी ने मातृमहिमा का बखान करते हुए लिखा है कि **'माता होने के कारण संसार में नारी की प्रतिष्ठा है। नारी यदि माता न होती तो संसार उसे केवल मायाविनी समझता। जगदम्बा की प्रत्यक्ष प्रतिमा होकर वह संसार का संचालन करती है। उसके अभाव में संसार उजाड़ हो जाता। वह न होती तो मानव दानव हो जाता।... संसार में समाज का निर्माण माता ही करती है। प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ अपनी माता का बनाया हुआ है। व्यक्तियों के समूह से समाज बनता है और व्यक्तियों को माता बनाती हैं। इस तरह माता ही समाज बनाने वाली है।'**[20]

इसलिए ही भारतीय समाज नारी को 'मातृशक्ति' की महिमा से मंडित करता रहा है और मातृवंदना में हमारा शीश सदा झुकता रहा है।

आचार्य शिवपूजन सहायजी विशुद्ध रूप से भारतीय संस्कृति और मान्यताओं के आग्रही रहे हैं, इसलिए सदा उनकी दृष्टि एवं लेखन में नारी पूज्या रही है। वे नारी को गुणवती और विदुषी बनने की जहाँ एक ओर सलाह देते हैं वहीं दूसरी ओर उसे अपनी परम्परा की रक्षा करने के लिए भी उपदिष्ट करते हैं- **'विद्या पढ़कर तुम सच्ची भारतीय महिला बनो। यदि शिक्षा पाकर तुम पाश्चात्य देशों की महिलाओं का अनुकरण करोगी तो तुम्हारी परम्परा नष्ट हो जायेगी। तब तुम्हारी संतानों में भी राष्ट्रीयता न रह जायेगी। इस तरह भारत की राष्ट्रीयता बचाये रखने का उत्तरदायित्व तुम्हारे ही ऊपर है।'**[21]

नारी-जागरण और नारी विमर्श के इस युग में नारियों को समाज में समान भागीदारी दिलाने के लिए **'बड़ी जरूरत है कि उनके पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, वैमनस्य, कटुता को कम किया जाए। पग-पग पर उनका शोषण रोका जाए। उन्हें सान्त्वना के**

शब्द मिलें। आत्मविश्वास जगाया जाए। परिवार, समाज, देश, विश्व के लिए उन्हें अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों का ज्ञान कराया जाए, समाज विकास में उनकी सक्रिय भागीदारी हो।'[22]

एवंबिध स्पष्ट है कि नारी-विमर्श के दौरान उठाये गये प्रायः सभी बिन्दुओं पर आचार्य शिवपूजन सहाय ने समय-समय पर प्रकाशित अपने विभिन्न लेखों में आज से 60-70 वर्ष पूर्व ही विचार किया था और उनके समाधान के मार्ग भी सुझाये थे। उन्होंने स्थूल आंदोलन के द्वारा नहीं, वैचारिक आंदोलन द्वारा नारी-विमर्श के सभी पहलुओं का संस्पर्श किया था। स्वयश एवं स्वनाम प्रचार के लिए सभी चिन्तित और प्रयत्नशील रहते हैं पर आचार्य शिवपूजन सहाय ने पुरस्कार के रूप में प्राप्त राशि बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन को देकर अपनी पत्नी 'बच्चन देवी' के नाम पर साहित्यिक गोष्ठी चलाने का संकल्प कराया था और वह गोष्ठी वर्षों तक चलती रही थी। यह था नारी, समाज के प्रति उनके सम्मान का प्रतीक। वैसे भी वे नारी को सदा देवी की मर्यादा देते रहे थे और महिलाओं की बौद्धिक उन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील रहे थे। उनकी 125वीं जयंती के अवसर पर उनके महिलोत्थान संबंधी विचार-पुष्पिकाओं का यह उपहार उनके अपार्थिव चरणों में सविनय समर्पित है।

संदर्भ ग्रंथ-

1. सं. आचार्य शिवपूजन सहाय- बिहार की महिलाएँ- पृ. 3
2. सं. आचार्य शिवपूजन सहाय- शिवपूजन ग्रंथावली भाग-2 बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1957
3. डॉ. विमला-उपाध्याय- 'आचार्य शिवपूजन सहाय और महिला महत्त्व' परिषद्-पत्रिका वर्ष 33 अंक-1-4-पृ.-60
4. उपरिवत्- पृ. 66
5. ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।। (58-6)
6. आचार्य शिवपूजन सहाय-शिवपूजन रचनावली खंड-2 पृ. 248
7. उपरिवत्- पृ. 249
8. उपरिवत्- पृ. 249
9. उपरिवत्- पृ. 247
10. शिवपूजन-ग्रंथावली बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्- 1957, पृ. 265
11. उपरिवत्- पृ . 377
12. उपरिवत्- पृ. 280
13. उपरिवत्- पृ. 250
14. सं. डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र- परिषद्-पत्रिका वर्ष 33 अंक-1-4, पृ. 63
15. उपरिवत्- पृ. 64
16. शिवपूजन-रचनावली खंड-2 बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, 1957, पृ. 266-67
17. मासिक कायस्थ-महिला-हितैषी-अयोध्या- सन् 1918 ई.
18. शिवपूजन रचनावली-खंड-2 (1957) पृ. 272
19. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्- परिषद् पत्रिका वर्ष 33, अंक-1-4, पृ. 66
20. शिवपूजन-रचनावली खण्ड-2 बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्-1957, पृ. 270
21. शिवपूजन-रचनावली-खण्ड-2 बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्-1957, पृ. 274
22. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्-परिषद् पत्रिका- वर्ष 33, अंक-1-4, पृ. 64

लीलाधाम

3/307 न्यू पाटलिपुत्र कॉलोनी, पटना-800013

❖●❖

आचार्य शिवपूजन सहाय का कथा साहित्य : सामाजिक कुरीतियों का प्रस्थान बिन्दु

- श्री अरविन्द कुमार

आचार्य शिवपूजन सहाय के कथा-साहित्य पर विचार करने के क्रम में यह जानना जरूरी हो जाता है कि आखिर वह कौन सा कारण है जिससे शिवजी के पूरे कथा-साहित्य में सिर्फ दो ही कृतियाँ चर्चित हुई। क्या यह अकारण है कि शिवपूजन सहाय की कहानी **'कहानी का प्लाट'** और उपन्यास **'देहाती दुनिया'** को छोड़कर (उपन्यास तो उनका एक ही है) बाकी कहानियाँ हाशिए पर पड़ी रहीं या गाहे-बगाहे सामने आई। जैसे पाठ्यक्रम में शामिल **'मुण्डमाल'** क्या सिर्फ इसलिये चर्चा में नहीं आयी, क्योंकि उसमें भारतीय इतिहास के ओज और पराक्रम को गौरवान्वित किया गया था? क्या **'देहाती दुनिया'** और **'कहानी का प्लॉट'** के अतिरिक्त कोई कहानी हमारे ऊपर अपेक्षित प्रभाव छोड़ सकी?

शिवजी के कथा-साहित्य का रचना-वर्ष 1911 से 1928 तक का है। इन अट्ठारह वर्षों में शिवजी ने जो कहानियाँ लिखीं उनकी कुल संख्या पंद्रह है। वैसे तो यह संख्या अधिक नहीं कही जा सकती, लेकिन इस संख्या में भी सिर्फ उनकी 1928 में लिखी कहानी 'कहानी का प्लाट' को ही हम क्यों आज की कहानी के साथ जोड़ते हैं? इसलिए कि उसमें तत्कालीन समाज की कुरीतियों के कुछ संकेत हैं। यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि यह कहानी उनके एकमात्र उपन्यास **'देहाती दुनिया'** के प्रकाशन के बाद की है। अगर **'देहाती दुनिया'** की भूमिका में शिवजी के द्वारा दिए गए रचना वर्ष को सामने रखा जाए, जो कि **1922** है तो यह कहानी उसके छह वर्ष बाद की ठहरती है। विषय-वस्तु और संवेदना के हिसाब से दोनों रचनाओं में बहुत समानता है पर अंतराल इतना बड़ा है कि दोनों को एक-दूसरे का सूत्र कहना बहुत तर्कसंगत नहीं लगता। इन बीच के वर्षों में दो कहानियां और आती हैं, जो हैं **'शरणागत-रक्षा'** (1923) तथा **'मानमोचन'** (1924) पर ये कहानियां **'देहाती दुनिया'** की संवेदना से न तो शुरू होती हैं, न ही 'कहानी का प्लाट' की संवेदना तक जाती हैं। यहाँ एक बात बराबर खटकती है कि कहानीकार अपनी कहानियों को लेकर बहुत सचेत नहीं है और उसकी रचनाओं में विषय-वस्तु का बदलाव बराबर आता रहता है। साथ ही यह भी कि वह कहानी में किसी खास दृष्टिकोण की केन्द्रीयता के बारे में नहीं सोचता। चाहे **'विभूति'** नामक कहानी संग्रह की भूमिका हो या 'देहाती दुनिया' की भूमिका, दोनों जगहों पर वह कथा-लेखन का उद्देश्य कुछ दूसरा ही मानता है। **'विभूति'** की भूमिका में वह लिखता है 'सच पूछिए तो थोड़ा बहुत अध्ययन और मनन करके मैंने जो कुछ सीखा है और मकरन्द संग्रहकारिणी मधुभक्षिका की तरह जो कुछ संचय किया है, उसे ही साहित्य-रसिकों के रसास्वादन-मनोरंजन के लिए इसमें रख दिया है।'... इसी भूमिका में यह भी है कि- ''दसों आख्यायिकाएं सच्ची घटनाओं के आधाार पर लिखी गयी हैं। आरम्भ में जो तीन आख्यायिकाएँ हैं उनके लिए 'टाड साहब के राजस्थान-इतिहास' से मसाला लिया था और शेष सात सामाजिक। परन्तु चौथी, नवीं और दसवीं आख्यायिकाओं को मैंने कानों सुनी घटना के अनुरूप ही लिख मारा है। मालूम नहीं, उन्हें कहाँ तक स्वाभाविक या शिक्षाप्रद या मनोरंजक बना सका हूँ।'... **'विभूति'** के पहले संस्करण में कुल दस कहानियां संकलित हैं जबकि चौथे संस्करण में सोलह। पहला संस्करण 1922 का है तथा चौथा 1950 का। चौथे संस्करण की भूमिका तक आते-आते जो बीच का लम्बा अन्तराल होता है, वह शिवजी को अपनी इन कहानियों के भविष्य को लेकर सशंकित भी करता है। वे लिखते हैं - 'इस प्रगतिशील युग के पाठकों में अधिकांश सज्जन इन कहानियों को पढ़ कर शायद झिझकेंगे। किन्तु कहानी-कला के क्रम-विकास पर ध्यान रखने वाले साहित्य-समीक्षक इनकी उपयोगिता समझ सकते हैं।' क्या शिवजी की यह शंका अनायास है या शिवजी इन बीच के वर्षों में हुए हिन्दी कहानी के विकास को ध्यान में रख कर ये बातें कह रहे हैं। निश्चित रूप से शिवजी इन बीच के वर्षों के हिन्दी कहानी के विकास से वाकिफ हैं और उनके सामने दर्जनों कथाकारों की महत्त्वपूर्ण कहानियाँ हैं। वे यहीं आत्ममंथन करते हैं, उन्हें लगता है कि उनकी कहानियों की संवेदना से बहुत आगे की कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं।

हालाँकि यही आत्ममंथन वे 'देहाती दुनिया' की भूमिका में भी करते हैं। 'देहाती दुनिया' के पहले संस्करण, जो 1926 का है, की भूमिका में वे लिखते हैं- 'मैंने आजतक जितनी पुस्तकें लिखीं, उनकी भाषा अत्यन्त कृत्रिम, जटिल, आडम्बरपूर्ण, अस्वाभाविक

और अलंकारयुक्त हो गयी। उनसे मेरे शिक्षित 'मित्रों' को तो संतोष हुआ, पर देहाती मित्रों का मनोरंजन कुछ भी न हुआ। मेरी कहानियों का संग्रह जब प्रकाशित हुआ, तब देहाती मित्रों ने यह उलाहना दिया कि तुम्हारी एक भी पुस्तक हमलोगों की समझ में नहीं आयी। क्या तुम कोई ऐसी पुस्तक नहीं लिख सकते, जिसके पढ़ने में हमलोगों का दिल लगे?... मैंने उसी समय अपने मन में यह बात ठान ली थी कि ठेठ देहाती मित्रों के लिए एक पुस्तक अवश्य लिखूंगा। यह पुस्तक उसी का परिणाम है।'... लगता है कि शिवजी का यह उपन्यास आत्ममंथन की इस प्रक्रिया से गुजर कर लिखा गया है। नहीं तो अपनी पूर्व की कहानियों से बिल्कुल अलग संवेदना का यह उपन्यास तैयार ही नहीं होता। यहाँ एक बात और गौर करने की है कि शिवजी ने इस उपन्यास के माध्यम से लेखक-पाठक संबंध को भी उजागर किया है। आज साहित्य की हर बहस से यह सवाल बार-बार उठता है कि क्यों हमारा एक वृहत्तर पाठक वर्ग तैयार नहीं हो रहा है? क्या शिवजी की इस भूमिका में इसका उत्तर नहीं मिल जाता? इसी भूमिका में एक जगह वे लिखते हैं- 'किन्तु इसे (देहाती दुनिया) लिखकर भी मेरे मन को अभी पूरा संतोष नहीं हुआ है, क्योंकि बहुत सावधान रहने पर भी मैं जैसा चाहता था, वैसा सरल और सुबोध इसको न बना सका। इसलिए अब मैं **'हमारा गाँव'** नामक उपन्यास लिखने का इरादा कर रहा हूँ, जिसकी भाषा को मैं इससे भी सरल बनाने की चेष्टा करूँगा ताकि ठेठ से ठेठ देहात का एकदम अपढ़ गँवार भी बिना किसी की सहायता के उसका एक-एक शब्द समझ ले, निरक्षर हलवाहे और मजदूर भी बड़ी आसानी से उसकी हर एक बात को अच्छी तरह से समझ जाएँ।'... क्या आज हम इस पाठक वर्ग को ध्यान में रखकर अपनी कृतियों का सृजन करते हैं? और यदि नहीं करते तो हम अपनी रचना के लिए एक बड़े पाठक वर्ग की उम्मीद कैसे कर सकते हैं? दरअसल हमें इसकी परवाह ही नहीं कि हम जिसके लिए लिख रहे हैं उस तक साहित्य कैसे जाए? नतीजा यह हो रहा है कि साहित्य की हमारी दुनिया और सिमटती जा रही है। शिवजी की यह चिंता कि एक निरक्षर या अपढ़ भी सुनाने पर उस साहित्य को समझ जाए, आज हमारी चिंता का विषय नहीं है। खुद शिवजी की प्रारंभिक कहानियों को देखें तो यह बात साफ हो जाती है कि ये कहानियाँ सरल-सुबोध नहीं हो सकने के चलते ही स्वीकृत नहीं हो सकीं, जिसका अफसोस शिवजी को बाद में चलकर हुआ। और संभवत: इसी का प्रायश्चित करने के लिए उन्होंने **'कहानी का प्लाट'** नामक कहानी लिखी। और शायद सरल तथा सुबोध की परिभाषा नहीं गढ़ पाने के चलते ही उनका **'हमारा गाँव'** नामक उपन्यास लिखने का इरादा कभी पूरा नहीं हो सका। हालांकि, **'देहाती दुनिया'** के चौथे संस्करण की भूमिका तक उनका यह इरादा बना रहा पर 1926 से 1950 के बीच के चौबीस वर्ष भी सामान्य पाठकों के लिए एक सर्वथा नयी भाषा तलाशने के उनके संकल्प के लिए काफी नहीं हुए। उन्हें यह लगता रहा कि यदि वे ऐसा नहीं कर सकते तो कुछ भी लिखकर वे एक बेईमानी नहीं करेंगे। और शायद **'हमारा-गाँव'** नहीं लिख पाने की इसी पीड़ा ने उनसे **'देहाती दुनिया'** के चौथे संस्करण में यह लिखवाया, **'आज से लगभग पच्चीस साल पहले देहाती भाइयों के मनबहलाव के लिए इसे निकाला था। गांव-गंवई में यह खूब पसंद किया गया। अब इस युग में इसकी कोई उपयोगिता है या नहीं, यह कहना मेरा काम नहीं। मैं तो ग्रंथमाला कार्यालय के अध्यक्ष श्री पंडित देवकुमार मिश्रजी का बहुत कृतज्ञ हूँ- जिन्होंने इस प्रगतिशील युग में भी मुझ जैसे अप्रगतिशील लेखक का ऐसा उपन्यास प्रकाशित करने की कृपा की है, जो आधुनिक कला की कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता।'** आज कितने लोगों के पास आत्ममंथन का यह तेवर है जो अपने अतीत को झाँककर देखता हो और जो लगातार समझ और संवेदना के स्तर में बदलाव का पक्षधर हो?

दरअसल यह बदलाव 'देहाती दुनिया' तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह 'कहानी का प्लाट' में भी परिलक्षित होता है, जो शिवजी की संवेदना का विस्तार ही माना जा सकता है। **'देहाती दुनिया'** की तरह **'कहानी का प्लाट'** की भाषा भी सहज, स्वाभाविक आडम्बररहित और यथार्थपरक है और उसका कथ्य भी बदला हुआ है। इसका कारण शिवजी की देहात की जिंदगी को लेकर वह यथार्थपरक दृष्टि है जिसका उल्लेख वे 'देहाती दुनिया' के प्रथम संस्करण की भूमिका में करते हैं- **'मैं ऐसी ठेठ देहात का रहनेवाला हूँ, जहाँ इस युग की नयी सभ्यता का बहुत ही धुंधला प्रकाश पहुँचा है। वहाँ केवल दो ही चीजें प्रत्यक्ष देखने में आती हैं- अज्ञानता का घोर अंधकार और दरिद्रता का ताण्डव नृत्य।'...** यह देहात की जिंदगी की दरिद्रता और अज्ञानता ही वह कारक तत्व है, जो शिवजी को इस यथार्थपरकता की ओर मोड़ता है, नहीं तो उनकी शुरू की कहानियों में शृंगारपरकता और अलंकारप्रियता की जो बाढ़ देखने को मिलती है, वह रीतिकालीन संवेदना के बहुत निकट है।

शिवजी का पहला कहानी संकलन **'महिला-महत्त्व'** के नाम से 1922 में निकला था जिसमें उनकी दस कहानियाँ संकलित थीं। इन दस कहानियों का रचनाकाल 1911 से 1917 है, इनमें तीन कहानियाँ ऐतिहासिक कथानक वाली हैं जिनमें- मुगलों के विरुद्ध राजपूतों की शौर्यगाथाएँ अंकित हैं। **'मुण्डमाल', 'सतीत्व की उज्जवल प्रभा'** तथा **'विषपान'** का कथासूत्र एक ही लगता है। **'मुण्डमाल'** तथा **'सतीत्व की उज्जवलप्रभा'** तो एक ही कड़ी की दो कहानियाँ हैं जिनमें राजपूत पुरुषों के साथ राजपूत नारियों के शौर्य का वर्णन है। इसके अतिरिक्त बाकी सातों कहानियाँ भी नारियों के जीवन और उनकी समस्याओं पर केन्द्रित हैं। वैसे इसकी पहली झलक तो संग्रह के शीर्षक से ही मिल जाती है, जहां शिवजी ने महिला के महत्व को स्वीकारना अपने जीवन का पहला कर्त्तव्य समझा है। 'महिला-महत्व' नामक यह संकलन बाद में चलकर 'विभूति' शीर्षक से 1922 में ही दुबारा छपा जिसमें 'महिला-महत्व' की ही दस कहानियां संकलित थीं। पर 'विभूति' के 1935 के संस्करण में छह और कहानियाँ शामिल हुई जो 1923 से 1931 के बीच प्रकाशित हुई थीं। राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा प्रकाशित उनकी ग्रंथावली के भाग एक के हिसाब से इन कहानियों में उनकी पहली कहानी 'हठभगतजी' या 'अनूठी-अंगूठी' हैं, जिनका रचनावर्ष 1911 है। हालांकि इन दोनों कहानियों के प्रकाशन वर्ष का उल्लेख कहीं नहीं मिलता और शायद इसीलिए शिवजी के पुत्र डा. मंगलमूर्ति उनकी पहली प्रकाशित कहानी 'तूती-सुगी-मैनी' को मानते हैं, जो ब्रजनंदन सहाय 'ब्रजवल्लभ' द्वारा संपादित 'साहित्य' पत्रिका में अक्टूबर-नवम्बर 1914 के अंक में छपी। यह हवाला उन्होंने शिवजी की 1917 की डायरी से दिया है जिसमें शिवजी ने लिखा है कि **'सर्वप्रथम गद्य यही लिखा था।'** 'विभूति' के इसी संस्करण में शिवजी की बहुचर्चित कहानी **'कहानी का प्लाट'** भी थी, जो 1928 में 'सरोज' में छपी थी। इस कहानी का रचना वर्ष भी 1928 ही है। संग्रह की आखिरी कहानी 'बुलबुल और गुलाब' आस्कर-वाइल्ड की कहानी का अनुवाद है। इसलिए यह कहानी उनकी मौलिक कहानियों के बीच खटकती है। वैसे भी 'कहानी का प्लाट' के बाद 'बुलबुल और गुलाब' कहानी देने का कोई औचित्य नहीं जान पड़ता। क्योंकि यह कहानी उस धारा का विकास तो कतई नहीं है, जो 'कहानी का प्लाट' तक आती है। इस रूप में शिवजी की अंतिम मौलिक कहानी 'कहानी का प्लाट' ही है।

'कहानी का प्लाट' का परिवेश ठेठ देहात का है जिसको लेकर लेखक बार-बार गर्व महसूस करता है। कहानी के शुरू में ही कथाकार लिखता है- 'मेरे गाँव के पास एक छोटा-सा गाँव है, गाँव का नाम बड़ा गँवारू है। सुनकर आप घिनाएंगे। वहाँ एक बूढ़े मुंशी जी रहते थे। अब वे इस संसार में नहीं हैं उनका नाम भी विचित्र ही था इसलिए उसे साहित्यिकों के सामने बताने में हिचकता हूँ। उनके एक पुत्री थी, जो अबतक मौजूद है। उसका नाम- जाने दीजिए सुनकर क्या कीजिएगा। मैं बताऊँगा भी नहीं। इसलिए उसका एक कल्पित नाम रख लेना जरूरी है। मान लीजिए उसका नाम है- 'भगजोगनी'। देहात की घटना है इसलिए देहाती नाम ही अच्छा होगा।' कहानी की इन पंक्तियों पर गौर किया जाए, तो जो बात सामने आती है, वह यह है कि एक आम साहित्यिक या शहरी देहाती शब्द से घृणा करता है और उसे देहात का वातावरण, देहात के लोग कतई पसंद नहीं। जबकि कथाकार इस शब्द से बेहद प्यार करता है चूंकि वह इन देहातों को भारत की तकदीर मानता है। इस रूप में यह कहानी तथाकथित शहरी संवेदना पर व्यंग्य करती है। आज भी साहित्य के क्षेत्र में एक ऐसा शहरी तबका मौजूद है, जो गाँवों के मुहाने तक नहीं जाना चाहता और जो लोग वहाँ की जिंदगी के उतार-चढ़ाव, वहाँ के संघर्षों और वहाँ के सांस्कृतिक संकट को रेखांकित कर रहे हैं, उन्हें वह दोयम दर्जे का रचनाकार मानता है और उनका नाम आते ही मुँह बिजकाने तक से बाज नहीं आता।

शिवजी अपनी इस कहानी में इसी देहाती प्रेम के चलते कहीं-कहीं ठेठ शब्दावलियों और मुहावरों का इस्तेमाल भी करते हैं। जैसे- 'जब बेचारे की पांचों उंगलियां घी में थीं तब तो कोई खाने वाला न रहा और जब दोनों टांगें दरिद्रता के दलदल में आ फँसी और ऊपर से बुढ़ापा भी कंधे दबाने लगा, तब कोढ़ में खाज की तरह एक लड़की पैदा हो गयी।'... 'जब घी और गरम मसाले उड़ाते थे, तब तो हमेशा लड़का ही पैदा करते रहे, पर अब मटर के सत्तू पर बेचारे कहाँ से लड़का निकाल लाएं।'... या फिर यह व्यंग्य, 'दारोगा जी के मरते ही सारी अमीरी छुप गयी, लोग साफ कहने लग गए- थानेदारी की कमाई और फूस का तापना दोनों बराबर है।'... 'उनके मरने के बाद सिर्फ उनकी एक घोड़ी बची थी, जो थी तो महज सात रुपये की मगर कान काटती थी तुर्की घोड़ों के - कमबख्त बारूद की पुड़िया थी। बड़े-बड़े अंगरेज अफसर उस पर दांत गड़ाए रह गए, मगर दारोगा जी ने सबको निबुआ-नोन चटा दिया।'

इसी तरह कहानीकार इस कहानी के माध्यम से समाज पर खुल कर व्यंग्य भी करता है और अपने मित्रों की आलोचना तक से नहीं चूकता। वह लिखता है- 'मुंशी जी की दास्तान सुनने के बाद मैंने अपने कई क्वांरे मित्रों से अनुरोध किया कि उस अलौकिक रूपवती दरिद्र कन्या से विवाह करके एक निर्धन भाई का उद्धार करें, किन्तु सबने मेरी बात अनसुनी कर दी। ऐसे-ऐसे लोगों ने भी आनाकानी की, जो समाज-सुधार संबंधी विषयों पर बड़े शान-गुमान से लेखनी चलाते हैं। यहाँ तक कि प्रौढ़ावस्था के रंडुए मित्र भी राजी न हुए।'... शिवजी की ये पंक्तियाँ कहीं न कहीं से उन तथाकथित प्रगतिशीलों पर भी टिप्पणी हैं जो एक दुहरा जीवन जीते हैं। जो समाज-सुधार की बातें तो कर लेते हैं, लेकिन खुद अपनी जिन्दगी में उसे नहीं उतारते। इस रूप में यह कहानी जीवन के एक जटिल यथार्थ को सामने लाती है। कहानी का कथावाचक पूरी कहानी में कथा का सहभागी सिर्फ इसलिए बना रहता है, ताकि वह समय-समय पर हमें अपने भीतर झांकने की सलाह देता रहे।

देहाती मिजाज का यह व्यंग्य सिर्फ 'कहानी का प्लाट' तक ही सीमित नहीं है, बल्कि 'देहाती दुनिया' में भी यह इसी तरह उभर कर आया है। जैसे- **'जो किसी दिन गोबर में से अनाज के दाने चुन-चुन कर खा जाती थी वह अब पेड़ा-बरफी छील-छील कर खाने लगी। जिसका चुड़ैल का सा झोंटा एक दिन जुओं का अड्डा था, उसका सिरदर्द अब गुलरोगन से भी दूर नहीं होता। जो कभी अच्छी तरह का दातून भी नहीं करती थी, वह अब दांतों में सुगन्धित मंजन लगाने लगी। जो पैसा भर गुड़ खाकर भी घंटों ओठ चाटती रह जाती थी, वह अब आईने के सामने पलंग पर पड़ी-पड़ी अपने ओठों पर पान की ललाई निहारने लगी।'** या फिर यह कथन जो एक दारोगा के रुतबे को लेकर है- **'रामसहर में आज दारोगा जी आए हुए हैं, दारोगा जी की खातिरदारी में सबलोग बड़े परेशान हैं। देहात में दारोगा को जो दावत दी जाती है, वह दुनिया में दामाद को भी दुर्लभ है। भगवान अगर किसी पढ़े-लिखे को पेट दें तो कहीं मुफस्सिल की थानेदारी भी किस्मत में लिख दें।'**

शिवजी की प्रारंभिक कहानियों के हिन्दी-जगत् के सामने आने तक उनके समकालीनों की कई महत्त्वपूर्ण कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं। जैसे चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की **'उसने कहा था'** जयशंकर प्रसाद की **'ग्राम'** तथा प्रेमचन्द की **'पंच परमेश्वर'** और **'नमक का दारोगा'**। **'उसने कहा था'** 1915 में प्रकाशित हुई थी तथा **'पंच परमेश्वर'** भी 1915 में। **'नमक का दारोगा'** 1917 में प्रकाशित हुई पर **'ग्राम'** 1913 में ही प्रकाशित हो चुकी थी। उस समय तक शिवपूजन सहाय की **'तूती मैना'**, **'वीणा'**, **'हठ भगतजी'**, **'अनूठी अंगूठी'** तथा **'मुण्डमाल'** प्रकाशित तो हो चुकी थी पर शिवजी की इन कहानियों की तुलना में **'ग्राम'**, **'पंच परमेश्वर'**, **'नमक का दारोगा'** तथा **'उसने कहा था'** आगे की संवेदना की कहानियाँ थीं। 'ग्राम' में महाजनी सभ्यता का जिक्र तथा भूस्वामियों द्वारा कारिंदों पर अत्याचार की घटना का उल्लेख तथा 'पंच परमेश्वर' एवं 'नमक का दारोगा' की सामाजिक चिंता उस समय की शिवजी की कहानियों पर ज्यादा भारी पड़ती हैं। यही नहीं 'कहानी के प्लाट' के रचना काल में भी प्रसाद की एक महत्त्वपूर्ण कहानी 'मधुआ' आ चुकी थी, जहाँ स्वतंत्र श्रम के महत्त्व को लेकर एक बुनियादी सवाल खड़ा किया गया था। दरअसल **'ग्राम'** कहानी से शुरू हुई संवेदना **'मधुआ'** तक आते-आते एकदम प्रौढ़ हो जाती है। हो सकता है कि 'विभूति' के चौथे संस्करण की भूमिका में अपनी कहानियों को लेकर शिवजी के मन में आई चिंता का कारण वैसी कहानियाँ ही हों, क्योंकि उस समय तक प्रसाद की **'इन्द्रजाल'**, **'गुण्डा'**, **'छोटा जादूगर'**, **'सालवती'** जैसी कहानियाँ आ चुकी थीं तथा प्रेमचंद की **'कफन'**, **'पूस की रात'**, **'शतरंज के खिलाड़ी'**, **'आहुति'**, **'सवा सेर गेहूं'**, **'ठाकुर का कुआँ'**, **'बासी भात में खुदा का साझा'**, **'नैराश्य लीला'** तथा **'ईदगाह'** जैसी कहानियों का प्रकाशन हो चुका था। हालांकि उस समय शिवजी के पास भी ऐसी कृतियाँ थीं, जिनमें कथ्यात्मक विकास के चिह्न मौजूद थे या जहाँ उनकी भाषा बदली हुई थी, जैसे 'मानमोचन' में खड़ी बोली के सम्मान को लेकर लिखी गयी ये बातें- **'ब्रजभाषा का युग बीत गया, अब आया खड़ी बोली का जमाना। ब्रजभाषा केवल महलों में माखन-मेवा-मिसरी खाकर पली। उसे दरिद्रों के झोपड़े तक पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। वह अमीर-उमरा के मनोरंजन की सामग्री बनी रही। किन्तु खड़ी बोली ने भारतवर्ष के हृदय की ध्वनि से दिशाओं को गुँजा दिया।'**... या फिर **'प्रायश्चित'** में अंगरेजी चरित्र का यह पर्दाफाश- **'हमारे जैसे अभागे निःशस्त्र भारतीय पर तमंचा तान कर आतंक स्थापित करना उस अत्याचारी गोरे के लिए बाएँ हाथ का खेल था।** एक निहत्थे हिन्दुस्तानी को निपट भयातुर देखकर वह मदान्ध मुसकुराने लगा और फिर मदनावेष-पूर्ण दृष्टि से हमारी पत्नी की ओर देखकर एक आलिंगनाभिलाषी विलासी की तरह उसने अपनी

भुजाओं को पसारा।'... या फिर **'हठ-भगतजी'** में भक्ति की यह अवधारणा **'क्या मंदिर में मूर्ति-प्रतिष्ठा करने से ही भगवद्-भक्ति पूरी होगी? क्या गोशाला बनवाने से आपके गोविंद-गोपाल संतुष्ट न होंगे? क्या अनाथालय और विधवाश्रम स्थापित करने से अनाथ-नाथ भगवान की सेवा नहीं हो सकती? क्या पुस्तकालय और औषधालय खोलने से भव-भेषज भगवान सच्चिदानन्द तृप्त नहीं हो सकते? क्या प्राणी-मात्र की निष्काम सेवा से बढ़ कर दूसरा भी कोई भक्ति यज्ञ है? क्या पीड़ितों और निराश्रितों की सहायता करने से भगवान प्रसन्न नहीं होते?'...** इसी तरह **'शरणागत-रक्षा'** में साम्प्रदायिक सद्भाव का परिवेश या फिर **'मुण्डमाल'** में आने वाला देशानुराग शिवजी के कथा संसार के महत्वपूर्ण पहलू हैं।... पर यह खुद उनके लिए काफी नहीं था। शिवजी इन कहानियों से संतुष्ट नहीं थे।

यह बात सोचने की है कि क्यों शिवजी ने 1928 के बाद कोई कहानी या उपन्यास नहीं लिखा? आखिर क्यों वे 1928 से लेकर 1963 के अपने अंतिम पड़ाव के बीच के पैंतीस वर्षों में सिर्फ दूसरी विधाओं को अपनाते रहे? क्योंकि यह तो हो नहीं सकता कि उन्हें इसकी जरूरत महसूस नहीं हो रही हो। तो क्या उन्हें कथा के क्षेत्र में और गहराई से प्रवेश करने का साहस नहीं हुआ? या फिर इसका कारण क्या यह है कि वे दूसरी साहित्यिक विधाओं के माध्यम से इस अधूरे काम को पूरा करना चाह रहे थे और उन्हें लगने लगा था कि कथा की अपेक्षा लेखों तथा संपादकीय टिप्पणियों के माध्यम से सामाजिक या राजनीतिक परिवर्तनों की लड़ाई ज्यादा असरदार ढंग से लड़ी जा सकती है।

502, महेश अपार्टमेंट,
बड़ी खंजरपुर,
भागलपुर-812001

❖●❖

बिना क्रिया के ज्ञान व्यर्थ है, ज्ञानहीन मनुष्य मृतक के समान है, सेनापति के बिना सेना नष्ट हो जाती है और पति के बिना स्त्रियाँ पतित हो जाती हैं, अर्थात् पति के बिना उनका जीवन व्यर्थ है।

- चाणक्य

साहित्य के अनन्य साधक : आचार्य शिवपूजन सहाय

- डॉ. जंगबहादुर पाण्डेय

धरा जब-जब विकल होती, मुसीबत का समय आता।
किसी भी रूप में कोई महामानव चला आता॥

किसी को समय बड़ा बनाता है और कोई समय को बड़ा बना देता है। कुछ लोग समय का सही मूल्यांकन करते हैं और कुछ आने वाले समय का पूर्वाभास पा जाते हैं। कुछ लोग परत-दर-परत तोड़कर उसमें वर्त्तमान के लिए ऊर्जा एकत्र करते हैं और कुछ लोग वर्त्तमान समस्याओं से घबड़ाकर अतीत की ओर भाग जाते हैं। साहित्य के अनन्य साधक आचार्य शिवपूजन सहाय एक ऐसे ही कालजयी साहित्यकार हैं, जिन्होंने अपनी लेखनी से समय और साहित्य को बड़ा बना दिया और वर्त्तमान की समस्याओं से कभी मुँह नहीं मोड़ा।

कहते हैं प्रतिभा कभी छिपाये नहीं छिपती। महान् पुरुष के सद्गुण मृग में बसी कस्तूरी के समान होते हैं जिसकी सुगंध बरबस सबको अपनी ओर खींच लेती है। ऐसे ही युगपुरुष साहित्यकार शिवपूजन सहाय हैं, जिनकी सरलता, सहजता, सादगी, तप, त्याग, बुद्धिमता, राष्ट्रभक्ति, शिक्षा एवं साहित्य के प्रति अनन्यता एवं दूरदर्शिता को भारत में ही नहीं वरन् संपूर्ण विश्व में सराहा गया।

आचार्य शिवपूजन सहाय का जन्म 9 अगस्त, 1893 में बिहार के भोजपुर जिलान्तर्गत उनवास नामक ग्राम में हुआ था और स्वर्गवाास 21 जनवरी, 1963 को पटना में। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की समग्र संवेदनाओं और चिंतन-मुद्राओं में व्यक्त उनकी जीवन-दृष्टि इस बात का प्रमाण है कि वे व्यापक अर्थ में हिन्द एवं हिन्दी के प्रति समर्पित रहे हैं। आचार्य शिवपूजन सहाय ने प्रायः प्रमुख विधाओं पर अपनी लेखनी चलाई और पर्याप्त यश पाया। **'देहाती दुनिया'** उनका पहला मौलिक आंचलिक उपन्यास कहा जा सकता है। यह ठेठ देहात का औपन्यासिक चित्र है। उन्होंने देहाती दुनिया में लिखा है कि-

जहाँ लड़कों का संग, तहाँ बाजे मृदंग। जहाँ बुड्ढ़ों का संग, तहाँ खर्चे का तंग॥

'देहाती दुनिया' की भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया है कि- ''मैंने यह पुस्तक जिन लोगों के लिए लिखी है, वे बेचारे यह नहीं समझते कि साहित्यिक सहृदयता क्या चीज है? वे उपन्यास पढ़ते खूब हैं पर उसका लक्षण या गुण-दोष नहीं जानते। इसीलिए मैंने पहले-पहल इस रूप में उन्हीं लोगों के लिए कुछ लिखना पसन्द किया- सो भी अपने मन से नहीं उन्हीं लोगों की प्रेरणा से।'' ठेठ देहात का प्रामाणित चित्र उकेरती उनकी औपन्यासिक कृति **'देहाती दुनिया'** ने लोकप्रियता की कई मंजिलें तय की।

मौलिक साहित्य-सृजन की दृष्टि से आचार्य शिवपूजन सहाय ने उपन्यास के अतिरिक्त कहानी, निबंध, संस्मरण, जीवनी आदि गद्य के सभी क्षेत्रों को समृद्ध किया। 'शिवपूजन रचनावली' में 'विभूति' शीर्षक से उनकी मौलिक कहानियाँ संकलित हैं जिनमें 'मुंडमाल', 'कहानी का प्लॉट', 'शरणागत की रक्षा' और 'वीणा' बहुचर्चित कहानियाँ हैं। **लोकनाथ पंडित- शब्दचित्र, सुनो अर्जुन, भीष्म, महाभारत के पात्रों की जीवनियाँ, मैं धोबी हूँ, मैं हज्जाम हूँ, व्यंग्य रचनायें। माँ के सपूत** एक बालपयोगी रचना है और दो घड़ी हास्य रसात्मक कृति। **ग्राम सुधार** तथा **अन्नपूर्णा के मंदिर** में पुस्तकों में उनके ग्रामोद्धार संबंधी निबंध संकलित हैं। इसके अलावा उन्होंने अनेक पुस्तकों का संपादन भी किया जिनमें **राजेन्द्र अभिनंदन ग्रंथ** उल्लेखनीय हैं।

'मुंडमाल' उनकी एक ऐतिहासिक कहानी है जिसमें उन्होंने देश एवं समाज की प्रतिष्ठा के लिए एक भारतीय वीर रमणी के अनुपम बलिदान का चित्रण बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंग से किया है। हाड़ा रानी के द्वारा चूड़ावत जी को कही गई ये पंक्तियाँ पाठकों के कानों में प्रेरणा का उद्घोष करने लगती हैं- ''लड़ाई की ललकार सुनकर लंगड़े-लूले को भी लड़ने-भिड़ने की लालसा जग जाती है, फिर आप तो क्षात्र तेज से भरे हुए क्षत्रिय हैं। प्राणनाथ! शूरों को शिथिलता नहीं शोभती। क्षत्रिय का छोटा-मोटा छोकरा भी क्षण भर में शत्रुओं को छील-छालकर छुट्टी कर देता है परन्तु आप प्रसिद्ध पराक्रमी होकर क्यों पस्त पड़ गये?''

साहित्य सृजन के साथ-साथ पत्रकारिता को भी आचार्य शिवपूजन सहाय ने हिन्दी प्रचार-प्रसार के लिए एक मिशन की तरह अपनाया पर इसे जीविका से संबद्ध करने की विवशता का उन्हें दर्द भी था। इसी कचोट में उन्होंने कहा है- ''कलम से पेट का निंद्य नाता इस जीवन में छूटता नजर नहीं आता।'' हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में जब आचार्य जी ने कदम रखा तब तिलक युग समाप्त हो रहा था और गांधी युग का उदय हो रहा था। पत्रकारिता के लिए ये संक्रमण की स्थिति थी, असमंजस का माहौल था लेकिन आचार्यजी ने इस तनाव को बहुत दूर तक नहीं झेला। उन्होंने गांधी का रास्ता अपना लिया। उनकी पत्रकारिता एक तरफ गांधीयुग के आदर्शों से अनुप्राणित है तो दूसरी तरफ कोलकत्ता के राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक परिवेश से प्रभावित। उन्होंने एक दर्जन से अधिक पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया जिनमें प्रमुख है- **मारवाड़ी सुधार, आदर्श, मतवाला, मौजी, उपन्यासतरंग, गोलमाल, समन्वय, गंगा, बालक, जागरण, हिमालय, माधुरी** आदि। पत्रकारिता का प्रारंभिक पाठ उन्होंने कोलकत्ता में पढ़ा था। संपादक के

रूप में उनकी विशिष्ट पहचान **'मतवाला'** के माध्यम से बनी। यद्यपि **'मतवाला'** कई महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षरों के सम्मिलित प्रयास का फल था लेकिन इसकी लोकप्रियता का सर्वाधिक श्रेय कविवर निराला और आचार्य शिवपूजन सहाय को जाता है। **'मतवाला'** का संपादकीय आचार्य शिवपूजन सहाय की अनूठी भाषा-शैली का अद्‌भुत उदाहरण है। **मतवाला** के प्रवेशांक का अग्र लेख लिखते समय की मन: स्थिति का विनम्रतापूर्वक उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि- ''युवती दुलहिन के बालक पति की तरह मेरा कलेजा धुकधुका रहा था। कई बार कई तरह से लिखा और फाड़ डाला.....मन जहाज का पंछी हो रहा था।'' संपादकीय के अतिरिक्त **'चलती चक्की'** नामक अपने स्तम्भ में वे तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों पर चुटीली व्यंग्यपूर्ण टिप्पणी लिखते थे। इसके अलावा 'मतवाला' के स्थायी स्तम्भ **'मतवाले का चुक्कड़', 'चंडूखाने की गप्प'** तथा **'रंगरूटों की फौज'** को तराशने का काम सहाय जी ही करते थे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी के प्रवर्त्तक रहे तो आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसको परिष्कृत रूप दिया, सुडौल आकार दिया, सुबोध संस्कृतनिष्ठ, आभिजात्य संस्कार से समृद्ध किया, शब्दानुशासन की दीक्षा देकर उसे कुलीन एवं साहित्यिक बनाया और उसी शृंखला की कड़ी हैं आचार्य शिवपूजन सहाय, जिन्होंने उसे परिमार्जित, विकसित, परिवर्द्धित ही नहीं किया बल्कि उसमें आत्सम्मान का संकल्प भरा, लालित्य की रसभरी गागर छलकाई, पारिजात्य सौरभ से उसको अभिसिंचित किया, जनपदीय शब्दों, प्रचलित मुहावरों, कहावतों आदि के साथ घनिष्ठ आत्मीयता जोड़ी तथा अपनी हड्डी को रगड़-रगड़कर भाषा-शिल्प को चंदन-चर्चित कर दिया।

वे साहित्य में सुरुचि एवं आदर्श रक्षा के प्रबल समर्थक थे। सांस्कृतिक उत्कर्ष के केवल स्वप्नद्रष्टा ही नहीं उसके उन्नायक भी थे। उनकी विलक्षण शैली की उत्कृष्टता और प्रभावोत्पादकता का मूलाधार मुहावरों के प्रचलित रूपों का समावेश, भावव्यंजक, आंचलिक भावों का सटीक एवं व्यापक व्यवहार तथा भाषा का निर्बाध प्रवाह है। उनके निरंतर साहित्यानुशीलन, सतत साधना, सर्जनात्मक उर्वरता, मौलिक दृष्टिकोण की यह देन रही कि उनकी शैली में साहित्य का माधुर्य एवं कला का चमत्कार मिश्रित रूप से सर्वत्र व्याप्त है। उनकी शैली की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि प्रत्येक वाक्य में उनकी लेखकीय सतर्कता मौजूद रहती जो उसे बहकने नहीं देती। उसमें ऊँचे पहाड़ों से फिसलती नदियों जैसा गुंजित नैसर्गिक प्रवाह है, उसकी लय और मात्रा में सामंजस्य है जो पाठकों के मन को पुलकित कर देता है।

आचार्य शिवपूजन सहाय में शिव और गणेश समन्वय था, उनके एक हाथ में कलम थी तो दूसरे में त्रिशूल भी था।

हिन्दी और उर्दू के द्वंद्व युद्ध में उन्होंने बालमुकुन्द गुप्त की सशक्त भूमिका को अपनाया। उर्दू की पताका फहरा उठी थी। हिंदी का ध्वज लड़खड़ाने लगा था क्योंकि राम बादशाह कहलाये सीता बेगम बनी और वशिष्ठ उस्ताद संबोधित किये गए। भाषा की आड़ में हिन्दू संस्कृति का इस्लामी कृत संस्करण तैयार हो गया। हिंदी-जगत् में तूफान खड़ा हो गया था। किसी को साहस नहीं था कि इस सुनियोजित षड्यंत्र का सामना कर सके। डॉ. अमरनाथ झा, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, डॉ. सम्पूर्णानन्द और आचार्य शिवपूजन सहाय ने अमोघ अस्त्र धारण कर लिया। शिवपूजन सहाय ने निर्भयतापूर्वक कहा कि समस्त भारतीय भाषाओं की जननी संस्कृत है और जो भी राष्ट्रभाषा बनने की अधिकारिणी होगी उसे संस्कृतनिष्ठ होना ही होगा। लोकतांत्रिक प्रणाली का तकाजा है कि बहुमत का सम्मान कर हिंदी को राष्ट्रभाषा एवं राजभाषा के रूप में स्वीकार किया जाय। आचार्य सहाय ने कहा कि- **''हिन्दी को मुट्ठी में मसलकर जो समुद्र में फेंकना चाहता है वह हिमालय को बटखरा बनाना चाहता है। जिसको समझना हो समझ ले कि हमारी हिंदी निपूती नहीं है उसकी रक्षा के लिए हजारों सपूत सन्नद्ध मनगढन्त शब्दों का कोश बनाकर जो हिंदी का राष्ट्रभाषा पद छीनने के लिए ललकारते हैं,** उन्हें हिंदी भी चुनौती देती है कि प्रतिस्पर्धा के अखाड़े में उतर आएँ। हिंदी वालों के सामूहिक जागरण का कलरव अब दिग्‌दिगंत को गुंजाकर रहेगा।'' (सौजन्य: स्वतंत्र भारत, 09.08.1963)। उनका विकराल रौद्र रूप देखकर वर्णसंकरी भाषा दहल उठी और उसे कब्र तक पहुंचाने में कोई कंधा लगाने वाला तक नहीं मिला।

वे हिंदी साहित्य के सर्वाधिक प्रामाणिक एवं क्रमबद्ध विश्वकोश थे। उनका व्यक्तिगत जीवन गंगोत्री के जल सा पवित्र था। संतत्व, साहित्यकला, एवं निश्छलता के वे अंत तक त्रिवेणी संगम बने रहे। उनकी अंत:करण की निर्मलता, परहित कातरता, दाधिच्य त्याग, नि:स्वार्थ सेवा, स्फटीक मणि जैसी पारदर्शी थी।

भाषा और शैली पर उनका असाधारण अधिकार था। कहानी की कलापूर्ण रचनाओं में वे निष्णात थे और संपादन-कला के तो सिद्धहस्त आचार्य थे ही। स्वभाव से सरल, आचरण से निष्कपट, वाणी में मृदुल और दायित्व-निर्वाह में निष्ठावान आचार्य शिवपूजन सहाय सच्चे अर्थों में साहित्य के शिव थे।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची
चलभाष : 9431595318, 8609659634
Email - pandey_ru05@yahoo.co.in

❖●❖

विश्वकोश के प्रतिनिधि पुरुष : महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

– आचार्य डॉ॰ श्रीरंजन सूरिदेव

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का लोकावतरण 1893 ई॰ के 9 अप्रैल को हुआ और लोकान्तरण 1963 ई॰ के अप्रैल में ही 18 तारीख को हुआ। वह उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के पन्दाहा ग्राम के निवासी थे। पन्दाहा उनका ननिहाल था। उनकी अपनी पितृभूमि थी– पन्दाहा से दस मील दूर कनैला ग्राम। उनके पूज्य पिताश्री का शुभ नाम था गोवर्धन पाण्डेय। उनकी महीयसी माता का नाम था कुलवन्ती। पितृकुल से मिला उनका नाम था केदारनाथ पाण्डेय। राहुल नाम तो बाद में हुआ, जब वह बौद्ध हो गये। उस समय (सन् 1930 ई॰) वह श्रीलंका में थे।

बौद्ध होने के पूर्व राहुलजी श्रीदामोदर स्वामी के नाम से संबोधित होते थे। राहुल नाम के आगे 'सांकृत्यायन' इसलिए लगा कि उनका पितृकुल 'सांकृत्य' गोत्रीय था। उनके नाना का नाम था रामशरण पाठक, जो अपनी युवावस्था में फौज में नौकरी कर चुके थे।

दर्जा 3 में पढ़ते समय राहुलजी उर्दू की किताब 'नवाजिदा वाजिन्दा' के इस शेर से– **'सैरकर दुनिया की गाफिल जिन्दागानी फिर कहाँ; जिन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ?'** से दूर देश जाने को प्रेरित हुए।

राहुल जी की जीवन–यात्रा की पहली उड़ान वाराणसी तक, दूसरी उड़ान कलकत्ता (अब कोलकाता) तक, तीसरी उड़ान में सन् 1910 से 1914 ई॰ तक हिमालय की यात्रा पर रहे। वाराणसी में उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया।

इसी क्रम में उनका 'परसा' के महन्त का साहचर्य प्राप्त हुआ। वहाँ से पलायन कर दक्षिण भारत की यात्रा पर निकल गये। पुनः आगरा, लाहौर आदि नगरों की यात्रा करते–करते वह पूरा घुमक्कड़ हो गये। सन् 1927 ई॰ में उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश किया। सत्याग्रह में भाग लेने के बाद उन्होंने जेल–यात्राएँ भी कीं। श्रीलंका में उन्नीस मास बिताने के बाद नेपाल में अज्ञातवास किया। उसके बाद ईरान और फिर तिब्बत की यात्राएँ पूरी कीं। उन्होंने सोवियत रूस का प्रवास भी लम्बे समय तक किया। रूस से लौटने के बाद वह भारत में ही रहे, फिर कुछ समय बाद चीन चले गये और पुनः श्रीलंका आ गये।

देश–देशान्तर की यात्रा के क्रम में राहुलजी का अध्ययन भी चलता रहा। यायावरी उनकी हॉबी हो गई। उनके जीवन में पर्यटन तो था ही, लेकिन इसके मूल में अध्ययन भी था और इस प्रकार वह महान् अध्येता बन गये। कट्टर सनातनी ब्रह्मण–कुल में जन्म लेकर भी सनातन धर्म की रूढ़ियों को उन्होंने अपने ऊपर से उतार फेंका। सभी धर्मों और संस्कृतियों का सार ग्रहण करते हुए, उनके मूल तत्त्वों को अपनाते रहे। पहले आर्य समाज, पुनः बौद्धधर्म, बौद्धधर्म से मानव–धर्म, यही राहुलजी के धार्मिक विकास का क्रम है।

इसी प्रकार, काश्तकारी से जमीन्दारी, जमीन्दारी से महन्ती, महन्ती से कांग्रेस, कांग्रेस से किसान–आन्दोलन और किसान–आन्दोलन से साम्यवाद–यह राहुलजी का सामाजिक चिन्तन–क्रम है।

राहुल जी किसी धर्म या विचारधारा में बाँधे नहीं रहे। **बौद्ध मज्झिम निकाय** का हवाला देते हुए राहुलजी ने अपनी जीवन–यात्रा में इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया है–बड़े की भाँति मैंने जो उपदेश किया है, वह भव–सागर से पार उतरने के लिए है, सिर पर ढोये–ढोये चलने के लिए नहीं।

यद्यपि राहुलजी के जीवन में पर्यटन–वृत्ति सदैव प्रमुख रही, तथापि जैसा पहले कहा गया, उनका पर्यटन केवल पर्यटन के लिए नहीं था, अपितु पर्यटन के मूल में अध्ययन की प्रवृत्ति सर्वोपरि रही। राहुलजी बाल्यकाल से ही मेधावी थे। विभिन्न श्रेणियों में अव्वल होना उनके लिए साधारण बात थी। परिस्थितियों के अनुसार जिस विषय के सम्पर्क में आये, उसकी पूरी जानकारी प्राप्त करना उनका वैयक्तिक धर्म बन गया। वाराणसी में जब संस्कृत से अनुराग हुआ, तब सम्पूर्ण संस्कृत–साहित्य, दर्शन, अर्थशास्त्र आदि का गम्भीर अध्ययन किया। कलकत्ता में अर्थशास्त्र आदि का गम्भीर अध्ययन किया। कलकत्ता में अंग्रेजी से पाला पड़ा तो कुछ समय में अंग्रेजी के ज्ञाता बन गये।'

आर्यसमाज का जब प्रभाव पड़ा, तब वेदों को मथ डाला। बौद्धधर्म की ओर जब झुकाव हुआ, तब पालि, प्राकृत, चीनी, तिब्बती एवं सिंहली भाषाओं की जानकारी प्राप्त करते हुए सम्पूर्ण बौद्ध ग्रन्थों का मनन किया एवं सर्वश्रेष्ठ उपाधि **'त्रिपिटकाचार्य'** की पदवी अधिगत की।

साम्यवाद की परिधि में गये तो राहुल जी कार्ल मार्क्स, लेनिन और स्तालिन के दर्शन से पूर्ण परिचित हुए। प्रकारान्तर से राहुलजी इतिहास, पुरातत्त्व, स्थापत्य, भाषाशास्त्र एवं राजनीति शास्त्र के धुरन्धर ज्ञाता हो गये। कहते हैं, राहुलजी अट्ठारह भाषाओं के ज्ञाता थे।

राहुलजी ने अपनी जीवन-यात्रा में स्वीकार किया है कि उनका साहित्यिक जीवन सन् 1927 ई॰ से प्रारम्भ होता है। वास्तविक बात तो यह है कि राहुलजी ने किशोरावस्था पार करने के बाद ही लेखनकार्य शुरू किया था। जिस तरह उनके पाँव नहीं रुके, उसी तरह उनके हाथ की लेखनी भी अविराम चलती रही। उनकी प्रज्ञापूत लेखनी अजस्र धारा में विभिन्न विषयों पर गतिशील रही। प्रायः डेढ़ सौ ग्रन्थो की रचना प्रज्ञा पुरुष राहुलजी ने की है। प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या प्रायः एक सौ उनतीस से भी अधिक है, जिनकी विषयक्रमानुसार सूची एक आलेख की सीमा आयत्त करती है। इनके ग्रन्थों की विषयक्रमानुसार सूची के लिए ज्ञानमण्डल, वाराणसी से प्रकाशित 'हिन्दी-साहित्य-कोश' की नामवाची शब्दावली (भाग-2) द्रष्टव्य है।

इस यथा प्रकाशित सूची से स्पष्ट है, राहुलजी ने हिन्दी-साहित्य के अतिरिक्त धर्म, दर्शन, लोक-साहित्य, यात्रा-साहित्य, जीवनी, राजनीति, इतिहास, संस्कृत-ग्रन्थों की टीका और अनुवाद, कोश, बालपोथी, सम्पादन आदि अनेक विषयों पर अधिकारपूर्वक लिखा है, जो उनकी बहुमुखी प्रज्ञा और प्रतिभा का परिचायक है।

हिन्दी-भाषा और सहित्य के क्षेत्र में राहुलजी ने अपभ्रंश काव्य-साहित्य, दक्खिनी हिन्दी-साहित्य आदि की बृहद् विवेचना द्वारा लुप्तप्राय सारस्वत निधि का उद्धार किया है। राहुलजी की मौलिक कहानियाँ और उपन्यास एक नये दृष्टिकोण को सामने रखते हैं। साहित्य-संबंधी राहुलजी की रचनाओं में एक विशिष्टता यह ध्यातव्य है कि उन्होंने प्राचीन इतिहास अथवा वर्त्तमान जीवन के उन अनाघ्रात या अछूते अंगों का स्पर्श किया है, जिस पर साधारणतया लोगों की दृष्टि नहीं जाती है।

इन रचनाओं में जहाँ एक ओर प्राचीन के प्रति मोह एवं इतिहास के प्रति गौरवानुभूति आदि हैं, वहीं दूसरी ओर उनकी अनेक रचानाएँ स्थानीय प्रभाव के साथ मोहक चित्र उपन्यस्त करती हैं। राहुलजी ने प्राचीन खण्डहरों से गणतंत्रीय प्रणाली खोज निकाली है। धार्मिक आन्दोलन से मुक्त सर्वहारा के धर्म का प्रतिपादन किया है। इतिहास के पृष्ठों में **असाधारण** के स्थान पर **साधारण** को अधिक मूल्य दिया है। इस प्रकार, जनता, जनता का राज्य, मेहनतकश मजदूर आदि राहुलजी की रचनाओं के मूल आधार हैं।

राहुल जी की भाषा जितनी सरल है, शैली उतनी सुगम है। काव्यात्मकता अथवा व्यंजना-गर्भ शैली का सहारा न लेते हुए राहुल जी ने सीधी सरल शैली को अपनाया है। इसलिए उनकी रचनाएँ सर्वसाधारण पाठकों के लिए मनोरंजक एवं बोधगम्य हैं।

महान् साहित्यपुरुष राहुलजी अपनी ज्ञानातिशयता के कारण ही 'महापण्डित' शब्द से सम्बोधित होते थे। वह जब पटना आते थे, तब बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में आचार्य शिवपूजन सहाय की दिवंगता धर्मपत्नी के नाम पर स्थापित बच्चन देवी साहित्य-गोष्ठी में आचार्य शिवजी के आमंत्रण को सहर्ष स्वीकार कर अवश्य पधारते थे और अपना व्याख्यान प्रस्तुत करते थे। उस समय मैं सम्मेलन में ही कार्यालय-संचालक था। आचार्य शिवजी के आदेश से मैं राहुलजी को रिक्शे पर साथ लेकर सम्मेलन-भवन लौटता था। राहुलजी पटना के अबुलास लेन में बदरी बाबू के आवास पर ठहरते थे, जो संभव होने पर ही 'कार' की व्यवस्था करते थे। राहुलजी जितने विद्वान् थे, उतने ही विनयी थे। उनका विराट् व्यक्तित्व असाधारण था, पर वह स्वयं **असाधारण** होते हुए भी **साधारण** ही बने रहते थे।

आलेख का आधार : हिन्दी साहित्यकोश (भाग-2)

''शुभैषणा''
एमको फैक्टरी कैम्पस,
श्रीनगर कॉलोनी, निकट संस्कार स्कूल,
संदलपुर, पटना-800006
चलभाष-9334493466

❖●❖

आचार्य शिवपूजन सहाय और महापंडित राहुल सांकृत्यायन पर एक दृष्टि

– श्री योगेन्द्र प्रसाद मिश्र

आचार्य शिवपूजन सहाय एवं महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का सन् 2018 ई॰ एक सौ पच्चीसवाँ वर्ष है। इन दो शलाका पुरुषों की जीवन-कीर्ति पर ही बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने अपना 39वाँ महाधिवेशन केन्द्रित किया है। ये दोनों ही अद्वितीय विद्वान् अपने-अपने क्षेत्र के महायशी निरूपित हुए हैं। इनमें कुछ साम्य भी है, यथा दोनों का जन्म 9 तरीख को ही हुआ। महापण्डित राहुल का 9 अप्रैल, 1893 और आचार्य शिवपूजन सहाय का 9 अगस्त, 1893 को। दोनों अपने क्षेत्र के प्रकाण्ड पण्डित निकले एवं उनकी रचनाओं से उन्हें आज भी याद किया जाता है। दोनों को भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' से अलंकृत किया। आचार्य शिवपूजन सहाय को 1960 में तो महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को 1963 में पद्मभूषण से अलंकृत किया गया। एकरूपता तो इसमें भी है कि दोनों की तीन-तीन शादियाँ और दोनों की मृत्यु 1963 में ही हुई- राहुल सांकृत्यायन की 14 अप्रैल, 1963 को दार्जीलिंग में तो आचार्य शिवपूजन सहाय की 21 जनवरी, 1963 को पटना में। कहा जाता है कि भारतेंदु, रामचन्द्र शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी, शिवपूजन सहाय, हजारी प्रसाद द्विवेदी और रामविलास शर्मा-प्रेमचन्द, राहुल जी, मुक्तिबोध और निराला सभी ने मिलकर एक वृहत् परम्परा का निर्माण किया था।

आयें हम आचार्य शिवपूजन सहाय और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के जीवन-विशेष के बारे में और कुछ जानें।

आचार्य शिवपूजन सहाय

'दुनिया की सरकारें प्रजा की हजामत बनाती हैं, निरंकुश लेखक भाषा की हजामत बनाता है। स्वयंभू कवि छन्दों की, डाक्टर मरीजों की, वकील मुवक्किलों की, टिकट चेकर मुसाफिरों की, दुकानदार ग्राहकों की, पण्डा तीर्थ-यात्रियों की, समालोचक लेखकों की, सम्पादक पुरस्कार की, प्रकाशक पाठक की और अनुवादक मूल भावों की हजामत बनाता है।'

आचार्य शिवपूजन सहाय ने 'मैं हज्जाम हूँ' शीर्षक रेखाचित्र में जिन तथ्यों को उकेरा है, उससे सहज ही आभास हो जाता है कि वे विषय की कितनी गहराई तक जाते थे। अपने जीवन में भी उन्होंने इस प्रकार की संभावनाओं को अपने सामने रखा। वे छेनी और हथौड़ी के लेखक कहे जाते थे। उनके पास परिमार्जन के लिए जो भी रचनाएँ आईं- उनका पन्ना-पन्ना लाल-हरे-नीले रंगों की पेंसिल से रँग गया और रचना एक नया ही कलेवर लेकर निकली, जो भाषा और विषय की दृष्टि से अनुपम हुई। अभी हाल ही में एक विद्वान् ने संस्मरण सुनाते हुए कहा कि अन्तिम क्षणों तक वे एक छपी हुई किताब के शुद्धिकरण हेतु रंगते देखे गये थे। कहते हैं कि उनकी विलक्षण लेखनी एवं सौम्य एवं शालीन स्वभाव ने अनेक वरिष्ठ साहित्य-लेखकों का निर्माण किय। वे नव-लेखकों एवं छोटे लेखकों को भी उतना ही प्रोत्साहन देते थे, जितना बड़ों को। उन्होंने मनसा-वाचा-कर्मणा साहित्य की नि:स्वार्थ सेवा की और उगती हुई प्रतिभाओं का सम्यक् पथ-प्रदर्शन किया। सुनते है कि प्रेमचंद की 'रंगभूमि' और प्रसाद की 'कामायनी' भी शिवपूजन सहाय की आँखों से गुजरी थी।

आचार्य शिवपूजन सहाय की मेधा-शक्ति का क्या कहना? एक सामान्य विद्यालयी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भागलपुर विश्वविद्यालय से 'डॉक्टरेट' की उपाधि से विभूषित होता है, पटना नगर निगम से अभिनन्दित होता है और भारत सरकार द्वारा 'पद्मभूषण' से अलंकृत। वे बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् पटना के संचालक (1950 से 1957 तक) रहे एवं 1941 में बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के 17वें अधिवेशन के अध्यक्ष तथा 1944 ई॰ में अखिल-भारतीय-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के महाधिवेशन की साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष रहे। उनके सम्मान में बिहार-राष्ट्रभाषा- परिषद, पटना ने उनकी प्रमुख रचनाओं का संकलन 'शिवपूजन रचनावली' के नाम से चार खण्डों में प्रकाशित किया है। परिषद् से अवकाश-ग्रहण करने के बाद उन्होंने 'बिहार का साहित्यिक इतिहास' के दो खण्डों का संपादन भी किया।

शिवपूजन सहाय जी हिन्दी-जगत् के गाँधीवादी संत थे और उन्होंने आजीवन संघर्षकर साहित्य के उन्नत पद को गौरवान्वित किया। साहित्य-सम्मेलन, साहित्य-परिषद् आदि साहित्यिक संस्थाओं के अधिवेशनों में उनके जो साहित्यिक भाषण हुए, उनका बड़ा

महत्व है। उन्होंने छः अभिनन्दन ग्रंथों का सम्पादन भी किया। 'बिहार की महिलाएँ' उनके द्वारा सम्पादित अंतिम अभिनन्दन-ग्रंथ है। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उन्होंने साहित्यिक कीर्त्तिमान स्थापित किया। 'मतवाला', 'गोलमाल', 'माधुरी', 'गंगा', जागरण 'बालक', 'हिमालय' सरीखे पत्रिकाओं का सम्पादन कर उन्होंने साहित्य को अनुपम भेंट दी।

रचनाधर्मिता की रक्षा में जहाँ वे वरेण्य साहित्यकारों की रचनाओं में सुधार कर, उसे चमकाते रहे, वहीं उन्होंने कुल बारह मौलिक रचनाएँ दीं। **देहाती दुनिया** (11 अध्यायों में लिखित हिन्दी का सर्वप्रथम आंचलिक उपन्यास) एवं **दो घड़ी** (रहस्य-रचना) काफी लोकप्रिय हुई। इसके साथ भीष्म, अर्जुन (जीवनी), ग्राम सुधार लेख भी चर्चित रहे। उनके द्वारा लिखित जीवनियाँ, संस्मरण, साहित्यिक स्फुट रचनाएँ और सम्पादकीय लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित ही नहीं हुए बल्कि कई तो विद्यालय-महाविद्यालय के पाठ्यक्रमों में भी सम्मिलित हुए।

बिहार के उनवाँस ग्राम (भोजपुर जिला) में, 9 अगस्त, 1893 को जन्मे इस मूर्धन्य विद्वान् का कार्य-क्षेत्र सम्पूर्ण बिहार रहा पर पटना विशेषकर। पटना में ही 21 जनवरी, 1963 को उन्हें परमपद प्राप्त हुआ। उनके जैसे कुशल साहित्य-शिल्पी विरल ही हैं। उनकी स्मृति में सभी सहज ही श्रद्धावनत हो जाते हैं। वे कालजयी कृतिकार और हिन्दी-जागरण के अविस्मरणीय पुरोधा थे। उनकी स्मृति को कोटि-कोटि नमन!

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

राहुल सांकृत्यायन का जन्म उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के पन्दाहा (ननिहाल) गाँव में 9 अप्रैल 1893 को हुआ था। वैसे उनका पैतृक गाँव कनैला था। उनके बाल्यकाल का नाम केदारनाथ पाण्डेय था। उनके पिता गोवर्द्धन पाण्डेय एक धार्मिक विचारवाले किसान थे। उनकी माता कुलवंती अपने माता-पिता की अकेली पुत्री थीं। दीपचन्द पाठक कुलवंती के छोटे भाई थे। राहुल जी का विवाह बचपन में कर दिया गया। यह विवाह राहुल जी के जीवन की एक संक्रान्तिक घटना थी। जिसकी प्रतिक्रया में राहुल जी ने किशोरावस्था में ही घर छोड़ दिया। घर से भाग कर एक मठ में साधु हो गये। लेकिन अपनी यायावरी स्वभाव के कारण वहाँ भी टिक नहीं पाये। चौदह वर्ष की अवस्था में कलकत्ता भाग आए। इनके मन में ज्ञान प्राप्त करने के लिए गहरा असंतोष था। इसलिए यहाँ से वहाँ तक सारे भारत का भ्रमण करते रहे।

राहुल जी का समग्र जीवन ही रचनाधर्मिता की यात्रा थी। जहाँ भी वे गए वहाँ की भाषा व बोलियों को सीखा और इस तरह वहाँ के लोगों में घुल मिलकर वहाँ की संस्कृति, व समाज साहित्य का गूढ़ अध्ययन किया। राहुल सांकृत्यान उस दौर की उपज थे जब ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारतीय समाज संस्कृति, अर्थ-व्यवस्था और राजनीति सभी संक्रमणकालीन दौर से गुजर रहे थे। वह दौर समाज-सुधारकों का था एवं कांग्रेस अभी शैशवस्था में थी। इन सब से राहुल अप्रभावित न रह सके एवं अपनी जिज्ञासु व घुमक्कड़ प्रवृत्ति के चलते घर त्याग कर साधु वेशधारी, संन्यासी से लेकर वेदान्ती, आर्यसमाजी व किसान नेता एवं बौद्ध भिक्षु से लेकर साम्यवादी चिन्तक का लम्बा सफर उन्होंने तय किया। सन् 1930 में श्रीलंका जाकर वे बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये एवं तभी से वे 'रामोदर साधु' से 'राहुल' हो गये और सांस्कृत्य गोत्र के के कारण 'सांस्कृत्यायन' कहलाये' उनकी अद्‌भुत तर्कशक्ति और अनुपम ज्ञान भंडार को देखकर काशी के पंडितों ने उन्हें 'महापंडित' की उपाधि दी एवं इस प्रकार केदारनाथ पाण्डेय से वे महापण्डित राहुल सांकृत्यायन हो गये। सन् 1937 में रूस के लेनिनग्राड में एक स्कूल में उन्होंने संस्कृत अध्यापक की नौकरी कर ली और उसी दौरान 'ऐलेना' नामक महिला से दूसरी शादी कर ली जिससे उन्हें 'इगोर राहुलोविच' नामक पुत्र रत्न प्राप्त हुआ। चौंतीस भाषाओं के ज्ञाता राहुल ने उपन्यास, निबंध, कहानी, आत्मकथा, संस्मरण व जीवनी आदि विधाओं में साहित्य-सृजन किया परन्तु अधिकांश साहित्य हिन्दी में ही रचा। राहुल तथ्यान्वेषी व जिज्ञासु प्रवृत्ति के थे सो उन्होंने हर धर्म के ग्रन्थ का अध्ययन किय। अपनी दक्षिण भारत की यात्रा के दौरान संस्कृत ग्रन्थों, तिब्बत प्रवास के दौरान पालि ग्रंथों, तो लाहौर-यात्रा के दौरान अरबीभाषा सीख कर इस्लामी धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया। निश्चितत: राहुल सांकृत्यायन की मेघा को साहित्य, अध्यात्म, ज्योतिष, विज्ञान, इतिहास, समाज-शास्त्र, राजनीति, भाषा-संस्कृति, धर्म एवं दर्शन के टुकड़ों में बाँटकर नहीं देखा जा सकता वरन् समग्रत: देखना उचित है।

आरंभिक जीवन/ साहित्यिक रूझान

राहुल जी वास्तव में ज्ञान के लिए गहरे असंतोष में थे, उसी असंतोष को पूरा करने के लिए वे हमेशा तत्पर रहे। उन्होंने हिन्दी को

विपुल साहित्य दिया। उन्होंने मात्र हिन्दी-साहित्य के लिए ही नहीं बल्कि भारत के कई अन्य क्षेत्रों के लिए भी शोध कार्य किया। वे वास्तव में महापण्डित थे। राहुल जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। उनकी रचनाओं में प्राचीन के प्रति आस्था, इतिहास के प्रति गौरव और वर्तमान के प्रति सधी हुई दृष्टि का समन्वय देखने को मिलता है। यह राहुलजी ही थे, जिन्होंने प्राचीन और वर्त्तमान भारतीय साहित्य-चिंतन को पूर्ण रूप से आत्मसात् कर मौलिक दृष्टि देने का प्रयास किया। उनके उपन्यास और कहानियाँ बिल्कुल नए दृष्टिकोण हमारे सामने रखते हैं। तिब्बत और चीन के यात्रा-काल में उन्होंने हजारों ग्रंथो का उद्धार किया और उनके सम्पादन और प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त किया, ये ग्रन्थ पटना संग्रहालय में हैं। यात्रा-साहित्य के महत्त्वपूर्ण लेखक राहुल जी रहे हैं। उनके यात्रा-वृत्तान्त में यात्रा में आनेवाली कठिनाइयों के साथ उस जगह की प्राकृतिक संपदा, उसका आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन और इतिहास-अन्वेषण का तत्त्व समाहित होता है। 'किन्नर देश की ओर', 'कुमाऊ', 'दार्जिलिंग परिचय' तथा 'यात्रा के पन्ने' ऐसे ही ग्रंथ हैं।

राहुल सांकृत्यायन का मानना था कि घुमक्कड़ी मानव मन की मुक्ति का साधन होने के साथ-साथ अपने क्षितिज विस्तार का भी साधन है। उन्होंने कहा भी था कि **'कमरबाँध लो भावी घुमक्कड़ो, संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।'**

एवंविध स्पष्ट है ये आचार्य द्वय हिन्दी साहित्य के अग्रगण्य साधकों में परिगण्य हैं और इनकी देन से हिन्दी भाषा और साहित्य का भांडार समृद्ध हुआ है।

मीनालय,
60 केसरी नगर,
पटना-800024

❖●❖

जो अपने निश्चित कर्मों अथवा वस्तु का त्याग करके, अनिश्चित की चिंता करता है, उसका अनिश्चित लक्ष्य तो नष्ट होता ही है, निश्चित भी नष्ट हो जाता है।

- चाणक्य

39वें महाधिवेशन में सम्मानित होने वाले विद्वानों की सूची

क्र. सं.	नाम	:	अलंकरण का नाम
1)	डॉ. सूर्य प्रसाद दीक्षित	:	आचार्य शिव पूजन सहाय सम्मान
2)	प्रो. शशि शेखर तिवारी	:	महापंडित राहुल सांकृत्यायन सम्मान
3)	डॉ. सोम ठाकुर	:	राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' सम्मान
4)	डॉ. सुरेश अवस्थी	:	गोपाल सिंह 'नेपाली' सम्मान
5)	मेजर बलबीर सिंह 'भसीन'	:	संत कवि गुरु गोविंद सिंह महाराज साहित्य-साधना सम्मान
6)	डॉ. श्रीमती कमल मुसद्दी	:	चतुर्वेदी प्रतिभा मिश्र साहित्य साधना सम्मान
7)	डॉ. अरुण सज्जन	:	रामवृक्ष बेनीपुरी सम्मान
8)	डॉ. शंभु प्रसाद सिंह, दूरदर्शन	:	राम गोपाल शर्मा 'रुद्र' सम्मान
9)	श्री महेश कुमार बजाज	:	महाकवि आरसी प्रसाद सिंह सम्मान
10)	श्री राजेंद्र उपाध्याय	:	राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह सम्मान
11)	श्री दीनानाथ साहनी	:	फणीश्वर नाथ 'रेणु' सम्मान
12)	डॉ. पद्मलता ठाकुर	:	पं राज कुमार शुक्ल-स्मृति सम्मान
13)	डॉ. तारा सिंह	:	प्रकाशवती नारायण सम्मान
14)	श्री चितरंजन कनक	:	रामधारी प्रसाद विशारद सम्मान
15)	डॉ. कलानाथ मिश्र	:	आचार्य नलिन विलोचन शर्मा सम्मान
16)	डॉ. रमेश चौधरी 'रमन'	:	कलक्टर सिंह केसरी सम्मान
17)	डॉ. नंद किशोर तिवारी	:	लक्ष्मी नारायण सिंह 'सुधांशु' सम्मान
18)	डा मंगला रानी	:	बच्चन देवी हिंदी सेवी सम्मान
19)	श्री सुनील कुमार दूबे	:	पं जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' सम्मान
20)	डॉ. विजय प्रकाश	:	केदार नाथ मिश्र 'प्रभात' सम्मान
21)	श्री विश्वनाथ ठाकुर विद्यार्थी	:	पं छविनाथ पांडेय सम्मान
22)	डॉ. प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन'	:	आचार्य देवेंद्र नाथ शर्मा सम्मान
23)	डॉ. आरती कुमारी, मुजफ्फरपुर	:	उर्मिला कौल साहित्य साधना सम्मान
24)	डॉ. गौरी गुप्ता	:	अंबालिका देवी सारस्वत-साधाना सम्मान
25)	श्री राम उचित पासवान 'पासवां'	:	कामता प्रसाद सिंह 'काम' सम्मान
26)	डॉ. परमानंद प्रभाकर	:	पं मोहन लाल महतो 'वियोगी' सम्मान
27)	डॉ. बबीता कुमारी	:	कुमारी राधा स्मृति सम्मान
28)	प्रो. अमरेन्द्र कुमार	:	डॉ. कुमार विमल सम्मान
29)	श्री रामदेव शर्मा 'प्रभंजन', बाढ़	:	अनूप लाल मंडल सम्मान
30)	डॉ. सत्य नारायण लाल	:	पं राम दयाल पांडेय सम्मान
31)	डॉ. विश्वनाथ वर्मा	:	हास्य रसावतार पं जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी सम्मान
32)	प्रो. दिलीप कुमार	:	डॉ. राम प्रसाद सिंह लोक-साहित्य-साधाना सम्मान
33)	डॉ. किशोर कुमार सिन्हा	:	पं प्रफुल्ल चंद्र ओझा 'मुक्त' सम्मान

34)	डॉ. शकुंतला मिश्र	:	डा मिथिलेश कुमारी मिश्र साहित्य साधना सम्मान
35)	मो. परवेज आलम	:	पीर मुहम्मद मूनिस सम्मान
36)	डॉ. संजय पंकज, मुजफ्फरपुर	:	आचार्य जानकी बल्लभ शास्त्री सम्मान
37)	श्री कृष्ण मोहन प्रसाद मोहन	:	बाबा नागार्जुन सम्मान
38)	श्री विजय शंकर मिश्र	:	पं हंस कुमार तिवारी सम्मान
39)	श्री सत्य नारायण लाल, चित्रकार	:	श्री उपेन्द्र महारथी कला-साधना सम्मान
40)	डा तैय्यब हुसैन 'पीड़ित'	:	डॉ. मुरलीधर श्रीवास्तव 'शेखर' सम्मान
41)	श्री समीर परिमल	:	कविवर पोद्दार रामावतार अरुण सम्मान
42)	डॉ. मुहम्मद हारून 'शैलेंद्र' सीतामढ़ी	:	पं रामचंद्र भारद्वाज सम्मान
43)	श्री अमियनाथ चटर्जी	:	रामेश्वर सिंह काश्यप सम्मान
44)	श्री राज किशोर सिंह 'उन्मुक्त'	:	रघुवीर नारायण सम्मान
45)	श्री सुमन कुमार	:	भिखारी ठाकुर नाट्य साधना सम्मान
46)	श्री सुभाष चंद्र झा, भा.प्र.से.	:	पं राम नारायण शास्त्री सम्मान
47)	श्री गोविंद राकेश	:	बलभद्र कल्याण हिंदी सेवी सम्मान
48)	श्री पल्लवी विश्वास	:	डॉ. नगेंद्र प्रसाद मोहिनी नृत्य साधना सम्मान
49)	श्री राजीव रंजन चौबे	:	महँथ धनराज पुरी सम्मान
50)	श्री देवेंद्र कुमार, पूर्वी चंपारण	:	साहित्य सम्मेलन हिंदी सेवी सम्मान
51)	श्रीकांत व्यास	:	साहित्य सम्मेलन हिंदी सेवी सम्मान
52)	श्री केशव प्रसाद वर्मा	:	साहित्य सम्मेलन हिंदी सेवी सम्मान
53)	डॉ. नागेन्द्र मणि	:	साहित्य सम्मेलन काव्य-साधना सम्मान
54)	श्रीमती शमा कौसर	:	साहित्य सम्मेलन काव्य-साधना सम्मान
55)	श्री कुंदन आनंद	:	साहित्य सम्मेलन काव्य-साधना सम्मान
56)	श्री कमल नयन श्रीवास्तव	:	साहित्य सम्मेलन हिंदी-सेवा सम्मान
57)	सुश्री आयुषी मिश्र	:	साहित्य सम्मेलन हिंदी-सेवा सम्मान
58)	श्री शैलेंद्र कुमार सिंह	:	साहित्य सम्मेलन हिंदी-सेवा सम्मान

साहित्य सम्मेलन पत्रकारिता सम्मान

59)	श्री दीपक दक्ष	:	साहित्य सम्मेलन हिंदी-पत्रकारिता सम्मान
60)	श्री सुजीत कुमार	:	साहित्य सम्मेलन हिंदी-पत्रकारिता सम्मान
61)	श्री साकिब इक बाल खान	:	साहित्य सम्मेलन हिंदी-पत्रकारिता सम्मान
62)	श्री हृदय नारायण झा	:	साहित्य सम्मेलन हिंदी-पत्रकारिता सम्मान
63)	श्री प्रभात रंजन	:	साहित्य सम्मेलन हिंदी-पत्रकारिता सम्मान
64)	श्री राजू श्रीवास्तव	:	साहित्य सम्मेलन हिंदी-पत्रकारिता सम्मान
65)	श्री आदित्य कुमार झा	:	साहित्य सम्मेलन हिंदी-पत्रकारिता सम्मान

जयंतियाँ एवं अन्य वार्षिक कार्यक्रम

10 जनवरी	विश्व हिन्दी दिवस
18 जनवरी	लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु' जयंती
23 जनवरी	निराला जयंती (सरस्वती पूजा)
24 जनवरी	जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' जयंती
26 जनवरी	गणतंत्र दिवस
27 जनवरी	प्रफुल्ल चन्द्र ओझा 'मुक्त' जयंती
30 जनवरी	जयशंकर प्रसाद जयंती
4 फरवरी	मथुरा प्रसाद दीक्षित जयंती
5 फरवरी	आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जयंती
18 फरवरी	आचार्य नलिन विलोचन शर्मा जयंती
20 फरवरी	डॉ. रंगी पसाद सिंह 'रंगम' जयंती
1 मार्च	पं. जगन्नाथ मिश्र गौड़ 'कमल' जयंती
4 मार्च	फणीश्वरनाथ रेणु जयंती
20 मार्च	पद्मश्री शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव जयंती
26 मार्च	महादेवी वर्मा जयंती
31 मार्च	मुरलीधर श्रीवास्तव जयंती
31 मार्च	केसरी कुमार जयंती
4 अप्रैल	माखनलाल चतुर्वेदी जयंती
9 अप्रैल	राहुल सांकृत्यायन जयंती
14 अप्रैल	छविनाथ पाण्डेय जयंती
9 मई	महावीर प्रसाद द्विवेदी जयंती
5 जून	कलक्टर सिंह केशरी जयंती
11 जून	रामदेव झा जयंती
13 जून	कबीर जयंती
30 जून	नागार्जुन जयंती
3 जुलाई	आचार्य आद्याचरण झा जयंती
7 जुलाई	आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा जयंती
16 जुलाई	डॉ. जगदीश पाण्डेय जयंती
31 जुलाई	प्रेमचन्द जयंती
1 अगस्त	पुरुषोत्तम दास टण्डन जयंती
3 अगस्त	मैथिलीशरण गुप्त जयंती
5 अगस्त	गंगा शरण सिंह जयंती
6 अगस्त	पं. रामदयाल पाण्डेय जयंती
9 अगस्त	आचार्य शिवपूजन सहाय जयंती
11 अगस्त	गोपाल सिंह 'नेपाली' जयंती
13 अगस्त	हँस कुमार तिवारी जयंती
15 अगस्त	स्वतंत्रता-दिवस
19 अगस्त	आरसी प्रसाद सिंह जयंती
सप्तमी श्रावण शुक्ल	तुलसी जयंती
9 सितम्बर	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जयंती
10 सितम्बर	राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह जयंती
10 सितम्बर	संन्यासी भवानी दयाल जयंती
11 सितम्बर	केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' जयंती
14 सितम्बर	हिन्दी-दिवस
23 सितम्बर	दिनकर जयंती
28 सितम्बर	धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री जयंती एवं कीर्त्यानन्द सिंह जयंती
2 अक्टूबर	गांधी जयंती एवं लालबहादुर शास्त्री जयंती
11 अक्टूबर	रामचन्द्र शुक्ल जयंती
12 अक्टूबर	डॉ. कुमार विमल जयंती
15 अक्टूबर	सेठ गोविन्ददास जयंती
19 अक्टूबर	सम्मेलन स्थापना-दिवस
30 अक्टूबर	रघुवीर नारायण जयंती
1 नवम्बर	राम गोपाल शर्मा 'रुद्र' जयंती
5 नवम्बर	मोहनलाल महतो 'वियोगी' जयंती
5 नवम्बर	उदयराज सिंह जयंती
6 नवम्बर	सीताराम 'दीन' जयंती
10 नवम्बर	आचार्य बदरीनाथ वर्मा जयंती एवं डॉ. सच्चिदानंद सिन्हा जयंती
18 नवम्बर	बुद्धिनाथ झा 'कैरव' जयंती
24 नवम्बर	पोद्दार रामावतार अरुण जयंती
27 नवम्बर	हरिवंश राय बच्चन जयंती
1 दिसम्बर	मिथिलेश कुमारी मिश्र जयंती
2 दिसम्बर	विन्ध्यवासिनी दत्त त्रिपाठी
3 दिसम्बर	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जयंती
5 दिसम्बर	डॉ. रामचन्द्र भारद्वाज जयंती
23 दिसम्बर	रामवृक्ष बेनीपुरी जयंती
25 दिसम्बर	मदन मोहन मालवीय जयंती
27 दिसम्बर	शंकर दयाल सिंह जयंती
30 दिसम्बर	डॉ. श्रीनिवास जयंती

CONTACT FOR

All types of Water Works & Civil Works

सभी प्रकार के जलापूर्त्ति कार्य उपलब्ध

NALANDA ENGICON

Bibekanand Kumar
Director

Nalanda Engicon Private Limited

14, Sri Ram Tower, West of Jalan Shop, Main Road,
Kankarbagh, Patna- 800020, Contact : 0612-2354739
Mobile : 9334754780, 9431445375
nalanda255@gmail.com

www.nalandaengicon.com

National Bank for Agriculture and Rural Development

NABARD









Our Mission: Promotion of sustainable and equitable agriculture and rural prosperity through effective credit support, related services, institution development and other innovative initiatives.

Research and Development on matters of importance pertaining to agriculture, agricultural operations and rural development including the provision of training and research facilities.

Consultancy services related to Agriculture & Rural Development through subsidiary (NABCONS).

Our Functions:

Provide Credit/Refinance for production credit and investment credit to eligible banks and financing institutions.

Development functions undertaken through Farm Sector Promotion Fund (FSPF), Financial Inclusion Fund (FIF), Watershed Development Fund (WDF), Tribal Development Fund (TDF), Rural Infrastructure Development Fund (RIDF), etc.

Supervisory functions in respect of Cooperative Banks and Regional Rural Banks.

Head Office Plot C-24, 'G' Block Bandra Kurla Complex, Bandra (East) Mumbai - 400 051

www.nabard.org YouTube **/nabardonline** **Taking Rural India >> Forward**

वातायन
9431040914